

ग्रन्थपरीक्षा : भद्रबाहु-संहिता

जैनसमाज में भद्रबाहुस्वामी एक बहुत प्रसिद्ध आचार्य हो गये हैं। आप पाँचवें श्रुतकेवली थे। श्रुतकेवली उन्हें कहते हैं जो सम्पूर्ण द्वादशांग श्रुत के पारगामी हों, उसके अक्षर का जिन्हें यथार्थ ज्ञान हो। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि तीर्थंकर भगवान् की दिव्यध्वनि द्वारा जिस ज्ञान-विज्ञान का उदय होता है, उसके अविकल ज्ञाताओं को श्रुतकेवली कहते हैं। आगम में सम्पूर्ण पदार्थों के जानने में केवली और श्रुतकेवली दोनों ही समान रूप से निर्दिष्ट हैं। भेद है सिर्फ प्रत्यक्ष-परोक्ष या साक्षात्-असाक्षात् का। केवली अपने केवलज्ञान द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं और श्रुतकेवली अपने स्याद्वादालंकृत श्रुतज्ञान द्वारा उन्हें परोक्ष रूप से अनुभव करते हैं। जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के इस वाक्य से प्रकट है—

स्याद्वादकेवलज्ञाने

सर्वतत्त्वप्रकाशने।

भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥१०॥

—आप्तमीमांसा

जैनियों को भद्रबाहु की योग्यता, महत्ता और सर्वमान्यता आदि के विषय में इससे अधिक परिचय देने की जरूरत नहीं है। वे भद्रबाहु के द्वारा सम्पूर्ण तत्त्वों की प्ररूपणा का उसी प्रकार अविकल रूप से होते रहना मानते हैं जिस प्रकार कि वह वीर भगवान् की दिव्य ध्वनि द्वारा होती रही थी और इस दृष्टि से भद्रबाहु वीर भगवान् के तुल्य ही माने और पूजे जाते हैं। इससे पाठक समझ सकते हैं कि जैन समाज में भद्रबाहु का आसन कितना अधिक ऊँचा है। ऐसे महान् विद्वान् और प्रतिभाशाली आचार्य का बनाया हुआ यदि कोई ग्रन्थ उपलब्ध हो जाये तो वह निःसंदेह बड़े ही आदर और सत्कार की दृष्टि से देखे जाने योग्य है और उसे जैनियों का बहुत बड़ा सौभाग्य समझना चाहिए। अस्तु; आज इस लेख द्वारा जिस ग्रन्थ की परीक्षा का प्रारंभ किया जाता है उनके नाम के साथ 'भद्रबाहु' का पवित्र नाम लगा हुआ है। कहा जाता है कि यह ग्रन्थ भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ है।

ग्रन्थ प्राप्ति

जिस समय सबसे पहले मुझे इस ग्रन्थ के शुभ नाम का परिचय मिला और जिस समय (सन् १९०५ में) पंडित गोपालदास जी ने इसके 'दाय भाग' प्रकरण को अपने 'जैनमित्र' पत्र में प्रकाशित किया उस समय मुझे इस ग्रन्थ के देखने की बहुत उत्कंठा हुई। परन्तु ग्रन्थ न मिलने के कारण मेरी वह इच्छा उस समय पूरी न हो सकी। साथ ही उस वक्त मुझे यह भी मालूम हुआ कि अभी तक यह ग्रन्थ किसी भण्डार से पूरा नहीं मिला। महासभा के सरस्वती भण्डार में भी इसकी अधूरी ही प्रति है। इसके बाद चार पाँच वर्ष हुए जब ऐलक पन्नालालजी के द्वारा झालरापाटन के भण्डार से इस ग्रन्थ

की यह प्रति निकाली गई और ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी के द्वारा जैनमित्र में इस पूरे ग्रन्थ के मिल जाने की घोषणा की गई और इसके अध्यायों की विषय-सूची का विवरण देते हुए सर्व साधारण पर ग्रन्थ का महत्त्व प्रकट किया गया, तब मेरी वह ग्रन्थावलोकन की इच्छा और भी बलवती हो उठी और मैंने निश्चय किया कि किसी न किसी प्रकार इस ग्रन्थ को एक बार परीक्षा-दृष्टि से जरूर देखना चाहिए। झालरापाटन की उक्त प्रति को, उस पर से कई प्रतियाँ करा कर ग्रन्थ का प्रचार करने के लिए, ऐलक पन्नालालजी अपने साथ ले गये थे। इस लिए उक्त ग्रन्थ का सहसा मिलना दुर्लभ हो गया। कुछ समय के बाद जब उन प्रतियों में से एक प्रति मुँरैना में पं० गोपालदासजी के पास पहुँच गई तब समाचार मिलते ही मैंने पंडितजी से उसके भेजने के लिए निवेदन किया। उत्तर मिला कि आधा ग्रन्थ पं० धन्नालालजी बम्बई ले गये हैं और आधा यहाँ पर देखा जा रहा है। अंत में बम्बई और मोरेना दोनों ही स्थानों से ग्रन्थ की प्राप्ति नहीं हो सकी। मेरी उस प्रबल इच्छा की पूर्ति में इस प्रकार की बाधा पड़ती देखकर बाबा भागीरथजी वर्णी के हृदय पर बहुत चोट लगी और उन्होंने अजमेर जाकर सेठ नेमिचंदजी सोनी के लेखक द्वारा, जो उस समय भद्रबाहु संहिता की प्रतियाँ उतारने का ही काम कर रहा था, एक प्रति अपने लिए कराने का प्रबंध कर दिया। बहुत दिनों के इन्तजार और लिखा-पढ़ी के बाद वह प्रति देहली में बाबाजी के नाम वी.पी. द्वारा आई, जिसको लाला जग्गीमलजी ने छुड़ाकर पहाड़ी के मंदिर में विराजमान कर दिया और आखिर वहाँ से वह प्रति मुझको मिल गई। देखने से मालूम हुआ कि यह प्रति कुछ अधूरी है। तब उसके कमती भाग की पूर्ति तथा मिलान के लिए दूसरी पूरी प्रति के मंगाने की जरूरत पैदा हुई, जिसके लिए अनेक स्थानों से पत्र व्यवहार किया गया। इस पर सेठ हीराचंद नेमिचंदजी शोलापुर ने पत्र पाते ही अपने यहाँ की प्रति भेज दी जो कि इस ग्रन्थ का पूर्वखण्ड मात्र है और जिससे मिलान का काम लिया गया। परन्तु इससे कमती भाग की पूर्ति नहीं हो सकी। अतः झालरापाटन से इस ग्रन्थ की पूरी प्रति प्राप्त करने का फिर से प्रयत्न किया गया। अब की बार का प्रयत्न सफल हुआ। गत जुलाई मास के अन्त में श्रीमान् सेठ विनोदीराम बालचंदजी के फर्म के मालिक श्रीयुत सेठ लालचन्दजी सेठी ने इस ग्रन्थ की वह मूल प्रति ही मेरे पास भेज देने की कृपा की जिस पर से अनेक प्रतियाँ होकर हाल में इस संहिता का प्रचार होना प्रारम्भ हुआ है और इसलिए सेठ साहब की इस कृपा और उदारता के लिए उन्हें जितना धन्यवाद दिया जाये वह थोड़ा है। जिन-जिन महानुभावों ने मेरी इस ग्रन्थावलोकन की इच्छा को पूरा करने के लिए ग्रन्थ भेजने-भिजवाने आदि द्वारा मेरी सहायता की है उन सबका मैं हृदय से आभार मानता हूँ। इस विषय में श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमी का नाम खास तौर से उल्लेख योग्य है और वे मेरे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं; जिनके खास उद्योग से झालरापाटन की मूल प्रति उपलब्ध हुई, जिन्होंने ग्रन्थ परीक्षा की सहायतार्थ अनेक ग्रन्थों को खरीदकर भेजने तक की उदारता दिखलाई और जिनकी कोशिश से एक अलब्ध ग्रन्थ की दक्कन कॉलेज पूना की लायब्रेरी से भी प्राप्त हुई। इस प्रकार ग्रन्थ प्राप्ति का यह संक्षिप्त इतिहास देकर अब मैं प्रकृत विषय की ओर झुकता हूँ—

परीक्षा की जरूरत

भद्रबाहु श्रुतकेवली अस्तित्व-समय वीर निर्वाण संवत् १३३ से प्रारम्भ होकर संवत् १६२ पर्यंत माना जाता है। अर्थात् विक्रम संवत् से ३०८ वर्ष पहले और ईसवी सन् से ३६५ वर्ष पहले तक भद्रबाहु मौजूद थे और इसलिए भद्रबाहु का समाधिस्थ हुए आज २२८१ वर्ष हो चुके हैं। इस समय से २९ वर्ष पहले के किसी समय में (जो कि भद्रबाहु के श्रुतकेवली रहने का समय कहा जाता है) भद्रबाहु श्रुतकेवली द्वारा इस ग्रन्थ की रचना हुई है, ऐसा कुछ विद्वानों का अनुमान और कथन है। ग्रन्थ में, ग्रन्थ के बनने का कोई सन् संवत् नहीं दिया और न ग्रन्थकर्ता की कोई प्रशस्ति ही लगी हुई है। परन्तु ग्रन्थ की प्रत्येक सन्धि में 'भद्रबाहु' ऐसा नाम जरूर लगा हुआ है; मंगलाचरण में 'गोवर्धनं गुरुं नत्वा' इस पद के द्वारा गोवर्धन गुरु का, जो कि भद्रबाहु श्रुतकेवली के गुरु थे, नमस्कार पूर्वक स्मरण किया गया है; कई स्थानों पर "मैं भद्रबाहु मुनि ऐसा कहता हूँ या कहूँगा" इस प्रकार का उल्लेख पाया जाता है; और एक स्थान पर "भद्रबाहुरुवाचेदं पंचमः श्रुतकेवली^१" यह वाक्य भी दिया है। इसके सिवाय ग्रन्थ में कहीं-कहीं पर किसी कथन के सम्बन्ध में इस प्रकार की सूचना भी की गई है कि वह कथन भद्रबाहु श्रुतकेवली का या द्वादशांग के जानने वाले भद्रबाहु का है। इन्हीं सब बातों के कारण जैन समाज के वर्तमान विद्वानों का उपर्युक्त अनुमान और कथन जान पड़ता है। परन्तु सिर्फ इतने पर से ही इतना बड़ा भारी अनुमान कर लेना बहुत बड़े साहस और जोखिम का काम है; खासकर ऐसी हालत और परिस्थिति में जबकि इस प्रकार के अनेक ग्रन्थ जाली सिद्ध किये जा चुके हो। जाली ग्रन्थ बनाने वालों के लिए इस प्रकार का खेल कुछ भी मुश्किल नहीं होता और इसका दिग्दर्शन पहले तीन ग्रन्थों पर लिखे गये परीक्षा लेखों द्वारा भले प्रकार कराया जा चुका है^२। भद्रबाहु को हुए आज २३सौ वर्ष का लम्बा चौड़ा समय बीत गया। इस अर्से में बहुत से अच्छे-अच्छे विद्वान् और माननीय आचार्य हो गये; परन्तु उनमें से किसी की भी कृति में इस ग्रन्थ का नामोल्लेख तक नहीं मिलता और न किसी प्राचीन शिलालेख में ही इस ग्रन्थ का उल्लेख पाया जाता है। श्रुतकेवली जैसे आदर्श पुरुष द्वारा रचे हुए एक ऐसे ग्रन्थ का, जिसका अस्तित्व आज तक चला आता हो, बाद को होने वाले किसी भी माननीय प्राचीन आचार्य की कृति में नामोल्लेख तक न होना संदेह से खाली नहीं है। साथ ही श्रवणबेलगोल के श्रीयुत पंडित दौर्बलि जिनदास शास्त्रीजी से मालूम हुआ कि उधर दक्षिण देश के भण्डारों में भद्रबाहुसंहिता की कोई प्रति नहीं है और न उधर पहले से इस ग्रन्थ का नाम ही सुना जाता है। जिस देश में भद्रबाहु का अन्तिम जीवन व्यतीत हुआ हो, जिस देश में उनके शिष्यों और प्रशिष्यों का बहुत बड़ा संघ लगभग १२ वर्ष तक रहा हो, जहाँ उनके शिष्यसम्प्रदाय में अनेक दिग्गज विद्वानों की शाखा प्रशाखायें फैली हों और जहाँ पर धवल, महाधवल आदि ग्रन्थों को

१. खण्ड ३ अध्याय १ श्लोक १० का पूर्वार्ध।

२. इससे पहले उमास्वामि-श्रावकाचार, कुन्द-कुन्दश्रावकाचार और जिनसेनत्रिवर्णाचार ऐसे तीन ग्रन्थों की परीक्षा की जा चुकी है, जिनके पाँच परीक्षालेख जैनहितैषी के १० वें भाग में प्रकाशित हुए हैं।

सुरक्षित रखने वाले मौजूद हों, वहाँ पर उनकी, अद्यावधिपर्यंत जीवित रहने वाली एक मात्र संहिता का नाम तक सुनाई न पड़े, यह कुछ कम आश्चर्य की बात नहीं है। ऐसा होना कुछ अर्थ रखता है और वह उपेक्षा किये जाने के योग्य नहीं है। इन सब कारणों से यह बात बहुत आवश्यक जान पड़ती है कि इस ग्रन्थ (भद्रबाहु संहिता) की परीक्षा की जाये और ग्रन्थ के साहित्य की जाँच द्वारा यह मालूम किया जाये कि यह ग्रन्थ वास्तव में कब बना है और इसे किसने बनाया है। इसीलिए आज पाठकों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया जाता है।

ग्रन्थ की विलक्षणता

जिस समय इस ग्रन्थ को परीक्षादृष्टि से अवलोकन करते हैं उस समय यह ग्रन्थ बड़ा ही विलक्षण मालूम होता है। इस ग्रन्थ में तीन खण्ड हैं- १. पूर्व, २. मध्यम, ३. उत्तर और श्लोकों की संख्या लगभग सात हजार है। परन्तु ग्रन्थ के अन्त में जो १८ श्लोकों का 'अन्तिम वक्तव्य' दिया है उसमें ग्रन्थ के पाँच खण्ड बतलाये हैं और श्लोकों की संख्या १२ हजार सूचित की है। यथा-

प्रथमो व्यवहाराख्यो ज्योतिराख्यो द्वितीयकः।

तृतीयोऽपि निमित्ताख्यश्चतुर्थोऽपि शरीरजः॥१॥

पंचमोऽपि स्वराख्यश्च पंचखंडैरियं मता।

द्वादशसहस्रं प्रमिता संहितेयं जिनोदिता ॥२॥

अन्तिम वक्तव्य अन्तिम खण्ड के अन्त में होना चाहिए था, परन्तु यहाँ पर तीसरे खण्ड के अन्त में दिया है। चौथे पाँचवें खण्डों का कुछ पता नहीं, और न उनके सम्बन्ध में इस विषय का कोई शब्द ही लिखा है। किसी ग्रन्थ में तीन खंडों के होने पर ही उनका पूर्व, मध्यम और उत्तर इस प्रकार का विभाग ठीक हो सकता है, पाँच खण्डों की हालत में नहीं। पाँच खण्डों के होने पर दूसरे खण्ड को 'मध्यम' और तीसरे को 'उत्तरखण्ड' कहना ठीक नहीं बैठता। पहले और अंत के खण्डों के बीच में रहने से दूसरे खण्ड को यदि 'मध्यम खण्ड' कहा जाये तो इस दृष्टि से तीसरे खण्ड को भी 'मध्यम खण्ड' कहना होगा, 'उत्तरखण्ड' नहीं। परन्तु यहाँ पर पद्य में भी तीसरे खण्ड को, उसके दस अध्यायों की सूची देते हुए, 'उत्तरखण्ड' ही लिखा है। यथा-

ग्रहस्तुतिः प्रतिष्ठां च मूलमंत्रर्षिपुत्रिके।

शास्तिचक्रे क्रियादीपे फलशान्ती दशोत्तरे ॥८॥

इसलिए खण्डों का यह विभाग समुचित प्रतीत नहीं होता। खण्डों के इस विभाग-सम्बन्ध में एक बात और भी नोट किये जाने योग्य है और वह यह है कि इस ग्रन्थ में पूर्व खण्ड की संधि देने के पश्चात्, दूसरे खण्ड का प्रारंभ करते हुए, "अथ भद्रबाहु-संहितायां उत्तरखण्डः प्रारभ्यते" यह वाक्य दिया है और इसके द्वारा दूसरे खण्ड को 'उत्तरखण्ड' सूचित किया है, परन्तु खण्ड के अंत में उसे वही 'मध्यमखण्ड' लिखा है। हो सकता है कि ग्रन्थकर्ता का ग्रन्थ में पहले दो ही खण्डों के रखने का विचार हो और इसीलिए दूसरा खण्ड शुरू करते हुए उसे 'उत्तरखण्ड' लिखा हो, परन्तु बाद को

दूसरा खण्ड लिखते हुए किसी समय वह विचार बदलकर तीसरे खण्ड की जरूरत पैदा हुई हो और इसलिए अन्त में खण्ड को 'मध्यमखण्ड' करा दिया हो और पहले जो उसके लिए 'उत्तरखण्ड' पद लिखा गया था उसका सुधार करना स्मृतिपथ से निकल गया हो। कुछ भी हो, पर इससे ग्रन्थ का अव्यवस्थितपना प्रकट होता है। यह तो हुई खण्डों के साधारण विभाग की बात, अब उनके विषय-विभाग की अपेक्षा विशेष नामकरण को लीजिए। ऊपर उद्धृत किये हुए श्लोक नं० १ में दूसरे खण्ड का नाम 'ज्योतिष-खण्ड' और तीसरे का नाम 'निमित्तखण्ड'^३ दिया है जिससे यह सूचित होता है कि ये दोनों विषय एक दूसरे से भिन्न अलग-अलग खण्डों में रखे गये हैं। परन्तु दोनों खण्डों के अध्यायों का पाठ करने से ऐसा मालूम नहीं होता। तीसरे खण्ड में सिर्फ 'ऋषिपुत्रिका' और 'दीप' नाम के दो अध्याय ही ऐसे हैं जिनमें 'निमित्त' का कथन है। बाकी के आठ अध्यायों में दूसरी ही बातों का वर्णन है। इससे पाठक सोच सकते हैं कि इस खण्ड का नाम कहाँ तक 'निमित्त खण्ड' हो सकता है। रही दूसरे खण्ड की बात, इसमें १. केवलकाल, २. वास्तुलक्षण, ३. दिव्येन्दुसंपदा, ४. चिह्न और ५. दिव्योषधि नाम के पाँच अध्याय तो ऐसे हैं जिनका ज्योतिष से प्रायः कुछ सम्बन्ध नहीं और 'उल्का' आदि २६ अध्याय तथा शकुन (स्वरादि द्वारा शुभाशुभज्ञान), लक्षण और व्यंजन नाम के कई अध्याय ऐसे हैं जो निमित्त से सम्बन्ध रखते हैं और उस अष्टांग निमित्त में दाखिल हैं जिसके नाम 'राजवार्तिक' में इस प्रकार दिये हैं—

अंतरिक्ष-भौमांग-स्वर-स्वप्न-लक्षण-व्यंजन-छिन्नानि अष्टौ महानिमित्तानि।

इस खण्ड के शुरू के २६ अध्यायों को उनकी संधियों में दिये हुए 'भद्रबाहु के निमित्ते' इन शब्दों द्वारा निमित्ताध्याय सूचित भी किया है। शेष के अध्यायों में एक अध्याय (नं० ३०) का नाम ही 'निमित्त' अध्याय है और उसके प्रतिज्ञा वाक्य में भी निमित्त कथन की प्रतिज्ञा की गई है। यथा—

अथ वक्ष्यामि केषांचिन्निमित्तानां प्ररूपणं।

कालज्ञानादिभेदेन यदुक्तं पूर्वसूरिभिः॥१॥

इस तरह इस खण्ड में निमित्ताध्यायों की बहुलता है। यदि दो निमित्ताध्यायों के होने से ही तीसरे खण्ड का नाम 'निमित्त' खण्ड रखा गया है तो इस खण्ड का नाम सबसे पहले 'निमित्तखण्ड' रखना चाहिए था, परन्तु ऐसा नहीं किया गया। इसलिए खण्डों का यह नामकरण भी समुचित प्रतीत नहीं होता। यहाँ पर पाठकों को यह जानकर और भी आश्चर्य होगा कि इस खण्ड के शुरू में निमित्त ग्रन्थ के कथन के लिए ही प्रश्न किया गया है और उसी के कथन की प्रतिज्ञा भी की गई है। यथा—

सुखग्राह्यं लघुग्रन्थं स्पष्टं शिष्यहितावहम्।

सर्वज्ञभाषितं तथ्यं निमित्तं तु ब्रवीहि नः॥२-१-१४॥

भवद्विषयदहं पृष्ठो निमित्तं जिनभाषितम्।

समासव्यासतः सर्वं तन्निबोध यथाविधि॥२-२॥

३. तीसरे खण्ड के अंत में भी उसका नाम 'निमित्तखण्ड' लिखा है।

ऐसी हालत में इस खण्ड का नाम 'ज्योतिषखण्ड' कहना पूर्वापर-विरोध को सूचित करता है। खण्डों के इस नामकरण के समान बहुत से अध्यायों का नामकरण भी ठीक नहीं हुआ। उदाहरण के तौर पर तीसरे खण्ड के 'फल' नाम के अध्याय को लीजिए। इसमें सिर्फ कुछ स्वप्नों और ग्रहों के फल का वर्णन है। यदि इतने पर से ही इसका नाम 'फलाध्याय' रखा गया तो इससे पहले के स्वप्नाध्याय को और ग्रहाचार प्रकरण के अनेक अध्यायों को फलाध्याय कहना चाहिए था। क्योंकि उनमें भी इसी प्रकार का विषय है। बल्कि उक्त फलाध्याय में जो ग्रहाचार का वर्णन है उसके सब श्लोक पिछले ग्रहाचार सम्बन्धी अध्यायों से ही उठाकर रखे गये हैं, तो भी उन पिछले अध्यायों को फलाध्याय नाम नहीं दिया गया। इसलिए कहना पड़ता है कि यह नामकरण भी ठीक नहीं हुआ। इसके सिवाय ग्रन्थ के आदि में मंगलाचरणपूर्वक जो प्रतिज्ञा-वाक्य दिया है और जिसे सम्पूर्ण ग्रन्थ के लिए व्यापक समझना चाहिए वह इस प्रकार है—

गोवर्धनं गुरुं नत्वा दृष्ट्वा गौतमसंहिताम्।

वर्णाश्रमस्थितियुता संहिता वर्ण्यतेऽधुना॥३॥

अर्थात्— 'गोवर्धन' गुरु को नमस्कार करके और 'गौतमसंहिता' को देखकर अब वर्णों तथा आश्रमों की स्थिति वाली संहिता का वर्णन किया जाता है।

इस प्रतिज्ञा-वाक्य में 'अधुना' (अब) शब्द बहुत खटकता है और इस बात को सूचित करता है कि ग्रन्थ में पहले से कोई कथन चल रहा है जिसके बाद का यह प्रकरण है, परन्तु ग्रन्थ में इससे पहले कोई कथन नहीं है। सिर्फ मंगलाचरण के दो श्लोक और दिये हैं जो 'नत्वा' और 'प्रणम्य' शब्दों से शुरू होते हैं और जिनमें कोई अलग प्रतिज्ञा वाक्य नहीं है। इसलिए इन दोनों श्लोकों से सम्बन्ध रखनेवाला यह 'अधुना' शब्द नहीं हो सकता। परन्तु इसे रहने दीजिए और खास प्रतिज्ञा पर ध्यान दीजिए। प्रतिज्ञा में संहिता का अभिधेय-संहिता का उद्देश्य-वर्णों और आश्रमों की स्थिति को बतलाना प्रकट किया है। इस अभिधेय से दूसरे-तीसरे खण्डों का कोई सम्बन्ध नहीं, खासकर दूसरा 'ज्योतिषखण्ड' बिल्कुल ही अलग हो जाता है और वह कदापि इस वर्णाश्रमवती संहिता का अंग नहीं हो सकता। दूसरे खण्ड के शुरू में, 'अथ भद्रबाहुसंहितायां उत्तरखण्डः प्रारभ्यते' के बाद 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः, श्रीभद्रबाहवे नमः' ये दो मंत्र देकर, 'अथ भद्रबाहुकृतनिमित्तग्रन्थः लिख्यते' यह एक वाक्य दिया है। इससे भी इस दूसरे खण्ड का अलग ग्रन्थ होना पाया जाता है। इतना ही नहीं, इस खण्ड के पहले अध्याय में ग्रन्थ के बनने का सम्बन्ध (शिष्यों का भद्रबाहु से प्रश्न आदि) और ग्रन्थ के (दूसरे खण्ड के) अध्यायों अथवा विषयों की सूची भी दी है जिससे इस खण्ड के भिन्न ग्रन्थ होने की और भी अधिकता के साथ पुष्टि होती है। अन्यथा, ग्रन्थ के बनने की यह सब सम्बन्ध-कथा और संहिता के पूरे अध्यायों वा विषयों की सूची पहले खण्ड के शुरू में दी जानी चाहिए, जहाँ वह नहीं दी गई। यहाँ पर खसूसियत के साथ एक खण्ड के सम्बन्ध में वह असम्बद्ध मालूम होती है। दूसरे खण्ड में भी इतनी विशेषता और है कि वह सम्पूर्ण खण्ड किसी एक व्यक्ति का बनाया हुआ मालूम नहीं होता।

उसके आदि के २४ या ज्यादाह से ज्यादाह २५ अध्यायों का टाइप और साँचा, दूसरे अध्यायों से भिन्न एक प्रकार का है। वे किसी एक व्यक्ति के बनाये हुए जान पड़ते हैं और शेष अध्याय किसी दूसरे तथा तीसरे व्यक्ति के। यही वजह है कि इस खण्ड में शुरू से २५वें अध्याय तक तो कहीं कोई मंगलाचरण नहीं है, परन्तु २६वें अध्याय से उसका प्रारंभ पाया जाता है, जो एक नई और विलक्षण बात है*। आम तौर पर जो ग्रन्थकर्ता ग्रन्थों में मंगलाचरण करते हैं वे ग्रन्थ की आदि में उसे जरूर रखते हैं। एक ग्रन्थकर्ता होने की हालत में यह कभी संभव नहीं कि ग्रन्थ की आदि में मंगलाचरण न दिया जाकर, ग्रन्थ के मध्य भाग से भी पीछे उसका प्रारंभ किया जाये। इसके सिवाय इन अध्यायों की संधियों में प्रायः 'इति' शब्द के बाद "नैर्ग्रन्थे भद्रबाहुके निमित्ते" ऐसे विशेष पदों का प्रयोग पाया जाता है, जो २६वें अध्याय को छोड़कर संहिताभर में और किसी भी अध्याय के साथ देखने में नहीं आता और इसलिए यह भेद-भाव भी बहुत खटकता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ का एक कर्ता होने की हालत में इस प्रकार का भेदभाव नहीं बन सकता। अस्तु। अब एक बात और प्रकट की जाती है जो इस दूसरे खण्ड की अध्याय-सूची अथवा विषय-सूची से सम्बन्ध रखती है और वह यह है कि इस खण्ड के पहले अध्याय में, क्रमशः कथन करने के लिए, जो अध्यायों अथवा विषयों की सूची दी है उसमें ग्रहयुद्ध के बाद 'वातिक' और वातिक के बाद 'स्वप्न' का विषय-कथन करना लिखा है। यथा—

‘गन्धर्वनगरं गर्भान् यात्रोत्पातांस्तथैव च।

ग्रहचारं पृथक्त्वेन ग्रहयुद्धं च कृत्स्नशः॥१६॥

वातिकं चाथ स्वप्नाश्च मुहूर्ताश्च तिथीस्तथा।

करणानि निमित्तं च शकुनं पाकमेव च॥१७॥

परन्तु कथन करते हुए 'ग्रहयुद्ध' के बाद 'ग्रहसंयोग अर्धकांड' नाम का एक अध्याय (नं० २५) दिया है और फिर उसके बाद 'स्वप्नाध्याय' का कथन किया है। यद्यपि 'ग्रहसंयोग अर्धकांड' नाम का विषय ग्रहयुद्ध का ही एक विशेष है और इसलिए श्लोक नं० १६ में लिये हुए 'कृत्स्नशः' पद से उसका ग्रहण किया जा सकता है, परन्तु इस अध्याय के बाद 'वातिक' नाम के अध्याय का कोई वर्णन नहीं है। स्वप्नाध्याय से पहले ही नहीं, बल्कि पीछे भी उसका कहीं कथन नहीं है। इसलिए कथन से इस विषय का साफ छूट जाना पाया जाता है। इसके आगे, विषय-सूची में, श्लोक नं० १७ के बाद ये दो श्लोक और दिये हैं—

ज्योतिषं केवलं कालं वास्तु दिव्येन्द्रसंपदा।

लक्षणं व्यंजनं चिह्नं तथा दिव्यौषधानि च॥१५॥

४. २६वें अध्याय का वह मंगलाचरण इस प्रकार है—

नमस्कृत्य महावीरं सुरासुरनमस्कृतम्। स्वप्नान्यहं प्रवक्ष्यामि शुभाशुभसमीरितम्॥१॥

५. इससे पहले विषय-सूची का निम्न श्लोक और है—

उल्का समासतो व्यासात्परिवेषांस्तथैव च। विद्युतोऽभ्राणि संध्याश्च मेघान्वातान्प्रवर्षणम्॥१५॥

बलाबलं च सर्वेषां विरोधं च पराजयं।

तत्सर्वमानुपूर्वेण प्रब्रवीहि महामते॥१६॥

इन श्लोकों में ‘बलाबलं च सर्वेषां’ इस पद के द्वारा पूर्वकथित सम्पूर्ण विषयों के बलाबल कथन की सूचना की गई है, परन्तु कथन करते हुए, अध्याय नं० ४१ और ४२ में सिर्फ ग्रहों का ही बलाबल दिखलाया गया है। शेष किसी भी विषय के बलाबल का इन दोनों अध्यायों में कहीं कोई वर्णन नहीं है और न आगे ही इस विषय का कोई अध्याय पाया जाता है। इसलिए यह कथन अधूरा है और प्रतिज्ञा का एक अंश पालन किया गया मालूम होता है। यदि श्लोक नं० १९ को १६ के बाद रखा जाये तो ‘‘बलाबलं च सर्वेषां’’ इस पद के द्वारा ग्रहों के बलाबल कथन का बोध हो सकता है। और श्लोक नं० १४ में दिये हुए ‘सुखग्राह्यं लघुग्रन्थं’ इस पद का भी कुछ अर्थ सध सकता है (यद्यपि श्रुतकेवली के सम्बन्ध में लघु ग्रन्थ होने की बात कुछ अधिक महत्त्व की नहीं समझी जा सकती), परन्तु ऐसा करने पर श्लोक नं० १७-१८ और उनके कथन-विषयक समस्त अध्यायों को अस्वीकार करके ग्रन्थ का अंग न मानकर ग्रन्थ से अलग करना होगा जो कभी इष्ट नहीं हो सकता। इसलिए कथन अधूरा है और उसके द्वारा प्रतिज्ञा का सिर्फ एक अंश पालन किया गया है, यही मानना पड़ेगा। इस प्रकार की और भी अनेक विलक्षण बातें हैं जिनको इस समय यहाँ पर छोड़ा जाता है। इन सब विलक्षणों से ग्रन्थ में किसी विशेष गोलमाल की सूचना होती है जिसका अनुभव पाठकों को आगे चलकर स्वतः हो जायेगा। यहाँ पर मैं इतना जरूर कहूँगा और इसे कहने में मुझे जरा भी संकोच नहीं है कि ऐसा असम्बद्ध, अधूरा, अव्यवस्थित और विलक्षणों से पूर्ण ग्रन्थ भद्रबाहु श्रुतकेवली जैसे विद्वानों का बनाया हुआ नहीं हो सकता। क्यों नहीं हो सकता? यद्यपि विद्वानों को इस बात के बतलाने की जरूरत नहीं है, वे इस ऊपर के कथन पर से ही सब कुछ अनुभव कर सकते हैं, परन्तु फिर भी चूँकि समाज में घोर अज्ञानान्धकार फैला हुआ है, अन्धी श्रद्धा का प्रबल राज्य है, गतानुगतिकता चल रही है, स्वतंत्र विचारों का वातावरण बंद है और कुछ विद्वान् भी उसमें दिशा भूल रहे हैं, इसलिए मैं सविशेष रूप से इस बात को सिद्ध करने की चेष्टा करूँगा कि यह ग्रन्थ भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ नहीं है।

श्वेताम्बरों की मान्यता

परन्तु इसे सिद्ध करने की चेष्टा से पहले मैं अपने पाठकों को यह बतला देना जरूरी समझता हूँ कि यह ग्रन्थ (भद्रबाहुसंहिता) श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ माना जाता है। श्वेताम्बर साधु मुनि आत्माराम जी ने अपने ‘तत्त्वादर्श’ के अन्तिम परिच्छेद में भद्रबाहु श्रुतकेवली के साथ उसका भी नामोल्लेख किया है और उसे एक ज्योतिष शास्त्र बतलाया है, जिससे इस संहिता के उस दूसरे खण्ड का अभिप्राय जान पड़ता है, जो ऊपर एक अलग ग्रन्थ सूचित किया गया है। बम्बई के श्वेताम्बर बुक सेलर शा भीमसिंह माणिक जी ने इसी भद्रबाहुसंहिता नाम के ज्योतिःशास्त्र का गुजराती अनुवाद संवत् १९५९ में छपाकर प्रसिद्ध किया था, जिसकी प्रस्तावना में

उक्त प्रसिद्धकर्ता महाशय ने लिखा है कि—

“आ भद्रबाहुसंहिता ग्रन्थ जैनना ज्योतिष विषयमां आद्य ग्रन्थ छे. तेमना रचनार श्रीभद्रबाहुस्वामि, चौदपूर्वधर श्रुतकेवली हता. तेमनां वचनो जैनमां आप्त वचनो गणाय छे। ...श्रीभद्रबाहुसंहिता नामना ग्रन्थनी महत्वता अति छातां आ प्रसिद्ध थयेला भाषांतररूप ग्रन्थनी महत्वता जो जनसमुदाय ने अल्प लागे तो तेनो दोष पंचमकालने शिर छे।”

प्रसिद्धकर्ता के इन वाक्यों से श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ग्रन्थ की मान्यता का अच्छा पता चलता है, परन्तु इतना जरूर है कि इस सम्प्रदाय में भी दिगम्बर सम्प्रदाय के समान, यह ग्रन्थ कुछ अधिक प्रचलित नहीं है। इसलिए श्रीयुत मुनि जिनविजय जी अपने पत्र में लिखते हैं कि “पाटन के किसी नये या पुराने भण्डार में भद्रबाहुसंहिता की प्रति नहीं है। गुजरात के या मारवाड़ के अन्य किसी प्रसिद्ध भण्डार में भी इसकी प्रति नहीं है। श्वेताम्बरों के भद्रबाहुचरितों में उनके संहिता बनाने का उल्लेख मिलता है, परन्तु पुस्तक अभी तक नहीं देखी गई।”

गुजराती अनुवाद

संहिता के इस गुजराती अनुवाद के साथ मूलग्रन्थ लगा हुआ नहीं है। प्रस्तावना में लिखा है कि “यह अनुवाद श्रावक हीरालाल हंसराज जी का किया हुआ है, जिन्होंने माँगने पर भी मूलग्रन्थ नहीं दिया और न प्रयत्न करने पर किसी दूसरे स्थान से ही मूलग्रन्थ की प्राप्ति हो सकी। इससे समूल छापने की इच्छा रहते भी यह अनुवाद निर्मूल ही छापा गया है।” यद्यपि इस अनुवाद के सम्बन्ध में मुझे कुछ कहने का अवसर नहीं है, परन्तु सर्वसाधारण की विज्ञप्ति और हित के लिए संक्षेप से, इतना जरूर कहूँगा कि यह अनुवाद सिर से पैर तक प्रायः गलत मालूम होता है। इस अनुवाद में ग्रन्थ के दो स्तबक (गुच्छक) किये हैं, जिनमें पहले स्तबक में २१ अध्यायों का और दूसरे में २२ अध्यायों का अनुवाद दिया है। पहले स्तबक का मिलान करने से जान पड़ता है कि अनुवादक जगह-जगह पर बहुत से श्लोकों का अनुवाद छोड़ता, कुछ कथन अपनी तरफ से मिलाता और कुछ आगे-पीछे करता हुआ चला गया है। शुक्रचार के कथन में उसने २३४ श्लोकों के स्थान में सिर्फ पाँच सात श्लोकों का ही अनुवाद दिया है। मंगलचार, राहुचार, सूर्यचार, चंद्रचार और ग्रहसंयोग अर्धकाण्ड नाम के पाँच अध्यायों का अनुवाद कतई छोड़ दिया है। उनका ग्रन्थ में नाम भी नहीं है। रही दूसरे स्तबक की बात, सो वह बिल्कुल ही विलक्षण तथा अनुवादक द्वारा कल्पित मालूम होता है। संहिता के पहले अध्याय में ग्रन्थभर में क्रमशः वर्णनीय विषयों की जो उपर्युल्लिखित सूची लगी हुई है और जिसका अनुवाद अनुवादक ने भी दिया है उससे इस स्तबक का प्रायः कुछ भी सम्बन्ध नहीं मिलता। उसके अनुसार इस स्तबक में मुहूर्त, तिथि, करण, निमित्त, शकुन, पाक, ज्योतिष, काल, वास्तु, इंद्रसंपदा, लक्षण, व्यंजन, चिह्न, औषधि, सर्व निमित्तों का बलाबल, विरोध और पराजय इन विषयों का वर्णन होना चाहिए था, जो नहीं है। उनके स्थान में यहाँ राशि, नक्षत्र, योग, ग्रहस्वरूप, केतु को छोड़कर

६. यह पत्र श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमी के नाम लिखा गया है।

शेष ग्रहों की महादशा, राजयोग, दीक्षायोग, और ग्रहों के द्वादश भावों का फल, इन बातों का वर्णन दिया है। चूँकि यह अनुवाद मूल के अनुकूल नहीं था शायद इसीलिए अनुवादक को मूल ग्रन्थ की कापी देने में संकोच हुआ हो। अन्यथा दूसरी कोई वजह समझ में नहीं आती। प्रकाशक को भी अनुवाद पर कुछ संदेह हो गया है और इसीलिए उन्होंने अपनी प्रस्तावना में लिखा है कि—

“आ भाषांतर ‘खरी भद्रबाहुसंहिता’ नामना ग्रन्थनुं छे एम विद्वानोनी नजरमां आवे तो ते बाबतनो मने अति संतोष थशे, परंतु तेथी विरुद्ध जो विद्वानोनी नजरमां आवे तो हुं तो लेशमात्र ते दोषने पात्र नथी। में तो सरल अंतःकरणथी आ ग्रन्थ खरा ग्रन्थनुं भाषांतर छे एम मानी छपाव्यो छे तेम छतां विद्वानोनी नजरमां मारी भूल लागे तो हुं क्षमा मागुं छूं।”

इस प्रस्तावना में प्रकाशक जी के उन विचारों का भी उल्लेख है जो मूलग्रन्थ के सम्बन्ध में इस अनुवाद पर से उनके हृदय में उत्पन्न हुए हैं और जो इस प्रकार हैं—

“श्रीबराहमिहिरे करेली वाराहीसंहिता अति विस्तारयुक्त ग्रन्थ छे, तेना प्रमाणमां आ उपलब्ध थयेलो भद्रबाहुसंहिता ग्रन्थ अति स्वल्प छे। श्रीभद्रबाहुस्वामि जेवा श्रुतकेवली पुरुषे ज्योतिष विषयनो रचैलो ग्रन्थ आटलो स्वल्प होय एम अंतःकरण कबुल करतुं नथी, ते ग्रन्थ वाराहीसंहिता करतां पण अति विस्तारवालो होवो जोइए।”

समझ में नहीं आता कि क्यों हीरालाल जी ने ऐसा अधूरा, गलत और कल्पित अनुवाद प्रकाशित करने के लिए दिया और क्यों उसे भी सी माणिक जी ने ऐसी संदिग्धवास्था में प्रकाशित किया। यदि सचमुच ही श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ऐसी कोई भद्रबाहुसंहिता मौजूद है जिसका उपर्युक्त गुजराती अनुवाद सत्य समझा जाये तो मुझे इसे कहने में भी कोई संकोच नहीं है कि वह संहिता और भी अधिक आपत्ति के योग्य है।

ग्रन्थ कब बना ? और किसने बनाया ?

अब यहाँ पर, विशेष रूप से परीक्षा का प्रारंभ करते हुए, कुछ ऐसे प्रमाण पाठकों के सम्मुख उपस्थित किये जाते हैं जिनसे यह भले प्रकार स्पष्ट हो जाये कि यह ग्रन्थ भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ नहीं है और जब उनका बनाया हुआ नहीं है तो यह कब बना है और इसे किसने बनाया है—

१. इस ग्रन्थ के दूसरे खण्ड के पहले अध्याय में ग्रन्थ के बनने का जो सम्बन्ध प्रकट किया है उसमें लिखा है कि, एक समय राजगृह नगर के पांडुगिरि पर्वत पर अनेक शिष्य-प्रशिष्यों से घिरे हुए द्वादशांग के वेत्ता भद्रबाहु मुनि बैठे हुए थे। उन्हें प्रीतिपूर्वक नमस्कार करके शिष्यों ने, दिव्यज्ञान के कथन की आवश्यकता प्रकट करते हुए, उनसे उस दिव्यज्ञान नाम के निमित्त ज्ञान को बतलाने की प्रार्थना की और साथ ही, उन विषयों की नामावली देकर जिनकी क्रमशः कथन करने की प्रार्थना की गई, उन्होंने नम्रता के साथ अंत में यह निवेदन किया—

सर्वानेितान्यथोद्विष्टान् भगवन्वक्तुमर्हसि।

प्रश्नं शुश्रूषवः सर्वे वयमन्ये च साधवः॥२०॥

अर्थात्- ‘हे भगवन् क्या आप कृपाकर इन समस्त यथोद्विष्ट विषयों का वर्णन करेंगे? हम सब शिष्यगण तथा अन्य साधुजन उनके सुनने की इच्छा रखते हैं।’ इसके बाद ग्रन्थ में दूसरे अध्याय का प्रारंभ करते हुए, जो वाक्य दिये हैं वे इस प्रकार हैं-

ततः प्रोवाच भगवान् दिग्वासा श्रमणोत्तमः।

यथावस्थासुविन्यासद्वादशांगविशारदः ॥१॥

भवद्भिर्यदहं पृष्टो निमित्तं जिनभाषितं।

समासव्यासतः सर्वं तन्निबोध यथाविधि॥२॥

अर्थात्- यह सुनकर यथावत् द्वादशांग के ज्ञाता उत्कृष्ट दिग्म्बर साधु भगवान् भद्रबाहु बोले कि “आप लोगों ने संक्षेप-विस्तार से जो कुछ जिनभाषित निमित्त मुझसे पूछा है उस सम्पूर्ण निमित्त को सुनिए।”

एक स्थान पर, इसी खण्ड के ३६ वें अध्याय में पुरुष-लक्षणों के बाद स्त्री-लक्षणों का वर्णन करते हुए यह भी लिखा है-

कन्या च कीदृशी ग्राह्या कीदृशी च विवर्जिता।

कीदृशी कुलजा चैव भगवन्वक्तुमर्हसि॥१३६॥

भद्रबाहुरुवाचेति भो भव्याः संनिबोधत।

कन्याया लक्षणं दिव्यं दोषकोशविवर्जितम्॥१३७॥

अर्थात्- हे भगवन्! क्या आप कृपया यह बतलाएँगे कि ग्राह्य कन्या कैसी होती है, विवर्जिता कैसी और कुलजा किस प्रकार की होती है? इस पर भद्रबाहु बोले कि हे भव्य पुरुषों! तुम कन्या का दोषजाल से रहित दिव्य लक्षण सुनो। इसके सिवाय इस खण्ड के बहुत से श्लोकों में ‘भद्रबाहुवचो यथा-’ भद्रबाहु ने ऐसा कहा है इन शब्दों के प्रयोग द्वारा यह सूचित किया है कि अमुक-अमुक कथन भद्रबाहु के वचनानुसार लिखा गया है। उन श्लोकों में से दो श्लोक नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं-

पापासूल्कासु यद्यस्तु यदा देवः प्रवर्षति।

प्रशांतं तद्भयं विद्याद्भद्रबाहुवचो यथा॥३-६५॥

द्योतयंती दिशः सर्वा यदा संध्या प्रदृश्यते।

महामेघस्तदा विद्याद्भद्रबाहुवचो यथा॥७-१६॥

इस सम्पूर्ण कथन और कथन-शैली से मालूम होता है कि यह ग्रन्थ अथवा कम से कम इसका दूसरा खण्ड भले ही भद्रबाहु श्रुतकेवली के वचनानुसार लिखा गया हो, परन्तु वह खास भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ नहीं है और चूँकि ऊपर भद्रबाहु के कथन के साथ ‘प्रोवाच उवाच’ ऐसी परोक्षभूत की क्रिया का प्रयोग किया गया है, जिसका यह अर्थ होता है कि वह प्रश्नोत्तर रूप की

सम्पूर्ण घटना ग्रन्थकर्ता की साक्षात् अपनी आँखों से देखी हुई नहीं है। वह उस समय मौजूद ही न था। उससे बहुत पहले की बीती हुई वह घटना है। इसलिए यह ग्रन्थ भद्रबाहु श्रुतकेवली के किसी साक्षात् शिष्य या प्रशिष्य का भी बनाया हुआ नहीं है। इसका सम्पादन बहुत काल पीछे किसी तीसरे ही व्यक्ति द्वारा हुआ है, जिसके समयादिक का निर्णय आगे चलकर किया जायेगा। यहाँ पर सिर्फ इतना ही समझना चाहिए कि यह ग्रन्थ भद्रबाहु का बनाया हुआ या भद्रबाहु के समय का बना हुआ नहीं है।

२. द्वादशांग वाणी अथवा द्वादशांग श्रुत के विषय में जो कुछ कहा जाता है और जैन शास्त्रों में उसका जैसा कुछ स्वरूप वर्णित है उससे मालूम होता है कि संसार में कोई भी विद्या या विषय ऐसा नहीं होता, जिसका उसमें पूरा-पूरा वर्णन न हो और न दूसरा कोई पदार्थ ही ऐसा शेष रहता है जिसका ज्ञान उसकी परिधि से बाहर हो। इसलिए सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का उसे एक अनुपम भण्डार समझना चाहिए। उसी द्वादशांग श्रुत के असाधारण विद्वान् श्रुतकेवली भगवान् होते हैं। उनके लिए कोई भी विषय ऐसा बाकी नहीं रहता जिसका ज्ञान उन्हें द्वादशांग को छोड़कर किसी दूसरे ग्रन्थ द्वारा सम्पादन करना पड़े। इसलिए उन्हें सम्पूर्ण विषयों के पूर्ण ज्ञाता समझना चाहिए। वे, जानने के मार्ग प्रत्यक्ष परोक्ष भेद को छोड़कर समस्त पदार्थों को केवलज्ञानियों के समान ही जानते और अनुभव करते हैं। ऐसी हालत होते हुए, श्रुतकेवली के द्वारा यदि कोई ग्रन्थ रचा जाये तो उसमें केवलज्ञानी के समान, उन्हें किसी आधार या प्रमाण के उल्लेख करने की जरूरत नहीं है और न द्वादशांग को छोड़कर दूसरे किसी ग्रन्थ से सहायता लेने की जरूरत है। उनका वह ग्रन्थ एक स्वतंत्र ग्रन्थ होना चाहिए। उसमें, खण्डन-मण्डन को छोड़कर, यदि आधार प्रमाण का कोई उल्लेख किया भी जाये अर्थात् अपने प्रतिपाद्य विषय की पुष्टि में किसी वाक्य के उद्धृत करने की जरूरत भी पैदा हो, तो वह केवली और द्वादशांग श्रुत को छोड़कर दूसरे किसी व्यक्ति या ग्रन्थ से सम्बन्ध रखने वाला न होना चाहिए। ऐसा न करके दूसरे ग्रन्थों और ग्रन्थकर्ताओं का उल्लेख करना, उनके आधार पर अपने कथन की रचना करना, उनके वाक्यों को उद्धृत करके अपने ग्रन्थ का अंग बनाना और किसी खास विषय को, उत्तमता की दृष्टि से, उन दूसरे ग्रन्थों में देखने की प्रेरणा करना, यह सब काम श्रुतकेवली पद के विरुद्ध ही नहीं किन्तु उसको बट्टा लगाने वाला है। ऐसा करना, श्रुतकेवली के लिए, केवली भगवान् और द्वादशांग श्रुत का अपमान करने के बराबर होगा, जिसकी श्रुतकेवली जैसे महर्षियों द्वारा कभी आशा नहीं की जा सकती। चूँकि इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर भद्रबाहु का ऐसा ही अयुक्ताचरण प्रकट हुआ है, इससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ नहीं है। नमूने के तौर पर यहाँ उसका कुछ थोड़ा-सा परिचय दिया जाता है। विशेष विचार यथावसर आगे होगा—

(क) दूसरे खण्ड के ३७ वें अध्याय में, घोड़ों का लक्षण वर्णन करते हुए, घोड़ों के अरबी आदि १८ भेद बतलाकर लिखा है कि, उनके लक्षण नीति के जानने वाले 'चंद्रवाहन' ने कहे हैं। यथा—

ऐरावताश्च काश्मीरा हया अष्टादशस्मृताः।

तेषां च लक्षणान्यूचे नीतिविच्छंद्रवाहनः॥१२६॥

इस कथन से पाया जाता है कि ग्रन्थकर्ता (भद्रबाहु) ने चंद्रवाहन के कथन को द्वादशांग के कथन से उत्तम समझा है और इसीलिए उसके देखने की प्रेरणा की है।

(ख) तीसरे खण्ड में 'शांतिविधान' नाम का १०वाँ अध्याय है, जिसमें दो श्लोक इस प्रकार से पाये जाते हैं—

परिभाषासमुद्देशे समुद्दिष्टेन लक्षणात्।

तन्मध्ये कारयेत्कुंडं शांतिहोमक्रियोचितं॥१५॥

हुताशनस्य मंत्रज्ञः क्रियां संधुक्षणादिकां।

विदध्यात्परिभाषायां प्रोक्तेन विधिना क्रमात्॥१६॥

इन दोनों श्लोकों में 'परिभाषासमुद्देश' नाम के किसी ग्रन्थ का उल्लेख है। पहले श्लोक में परिभाषासमुद्देश में कहे हुए लक्षण के अनुसार होमकुंड बनाने की और दूसरे में उक्त ग्रन्थ में कही हुई विधि के अनुसार संधुक्षणादिक (आग जलाना आदि) क्रिया करने की आज्ञा है। इसी खण्ड के छठे अध्याय में, यंत्रों की नामवाली देते हुए, एक 'यंत्रराज' नाम के शास्त्र का भी उल्लेख किया है और उसके सम्बन्ध में लिखा है कि, इस शास्त्र के जानने मात्र से बहुधा निमित्तों का कथन करना आ जाता है। यथा—

यंत्रराजागमे तेषां विस्तारः प्रतिपादितः।

येन विज्ञानमात्रेण निमित्तं बहुधा वदेत्॥२६॥

ये दोनों ग्रन्थ (परिभाषासमुद्देश और यंत्रराज) द्वादशांग श्रुत का कोई अंग न होने से दूसरे ही विद्वानों के बनाये हुए ग्रन्थ मालूम होते हैं, जिनका यहाँ आदर के साथ उल्लेख किया गया है और जिनका यह उल्लेख, ग्रन्थकर्ता की दृष्टि से, उनमें द्वादशांग से किसी विशिष्टता का होना सूचित करता है।

(ग) पहले खण्ड के पहले अध्याय में 'गौतमसंहिता' को देखकर इस संहिता के कथन करने की प्रतिज्ञा की गई है। साथ ही दो स्थानों पर ये वाक्य और दिये हैं—

१. आचमनस्वरूपभेदा गौतमसंहितातो ज्ञातव्याः।

२. पात्रभेदा गौतमसंहितायां दृष्टव्याः। भूम्यादिदानभेदाश्च ग्रन्थान्तरात् उत्सेयाः।

इनमें लिखा है कि (१) आचमन का स्वरूप और उसके भेद गौतमसंहिता से जानने चाहिए। (२) पात्रों के भेद गौतम संहिता में देखने चाहिए और भूमि आदि दान के भेद दूसरे ग्रन्थों से मालूम करने चाहिए। इस सम्पूर्ण कथन से 'गौतमसंहिता' नाम के किसी ग्रन्थ का स्पष्टोल्लेख पाया जाता है। गौतम का नाम आते ही पाठकों के हृदय में भगवान् महावीर के प्रधान गणधर गौतम स्वामी का ख्याल आ जाना स्वाभाविक है, परन्तु यह सर्वत्र प्रसिद्ध है कि गौतम स्वामी ने द्वादशांग सूत्रों की

रचना की थी। इसके सिवाय उन्होंने संहिता जैसे किसी अनावश्यक पृथक् ग्रन्थ की रचना की हो, इस बात को न तो बुद्धि ही स्वीकार करती है और न किसी माननीय प्राचीन आचार्य की कृति में ही उसका उल्लेख पाया जाता है। इसलिए यह 'गौतमसंहिता' गौतम गणधर का बनाया हुआ कोई ग्रन्थ नहीं है। यदि ऐसा कहा जाये कि सम्पूर्ण द्वादशांगसूत्रों या द्वादशांग श्रुत का नाम ही 'गौतमसंहिता' है तो यह बात भी नहीं बन सकती। क्योंकि ऊपर उद्धृत किये हुए दूसरे वाक्य में भूमि आदि दान के भेदों को ग्रन्थान्तर से जानने की प्रेरणा की गई है, जिससे साफ मालूम होता है कि गौतमसंहिता में उनका कथन नहीं था तभी ऐसा कहने की जरूरत पैदा हुई और इसलिए द्वादशांग के लक्षणानुसार ऐसे अधूरे ग्रन्थ का नाम, जिसमें दान के भेदों का भी वर्णन न हो, 'द्वादशांगश्रुत' नहीं हो सकता। बहुत संभव है कि इस संहिता का अवतार भी भद्रबाहुसंहिता के समान ही हुआ हो, अथवा यहाँ पर यह नाम दिये जाने का कोई दूसरा ही कारण हो।

(घ) एक स्थान पर, इस ग्रन्थ में, 'जटिलकेश' नाम के किसी विद्वान् का उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार है—

रविवाराद्या क्रमतो वाराः स्युः कथित जटिलकेशादेः।

वारा मंदस्य पुनर्द्वादाशी विषस्यापि॥३-१०-१७३॥

इन्द्रानिलयमयक्षत्रितयनदहनाब्धिरक्षसां हरितः।

इह कथितजटिलकेशप्रभृतीनां स्युः क्रमेण दिशः॥ -१७४॥

इन उल्लेख वाक्यों में लिखा है कि रविवारादिक के क्रम से वारों का और इन्द्रादिक के क्रम से दिशाओं का कथन जटिलकेशादिक का कहा हुआ है, जिसको यहाँ नागपूजा-विधि में, प्रमाण माना है। इससे या तो द्वादशांग श्रुत का इस विषय में मौन पाया जाता है अथवा यह नतीजा निकलता है कि ग्रन्थकर्ता ने उसके कथन की अवहेलना की है।

(ङ) तीसरे खण्ड के आठवें अध्याय में उत्पातों के भेदों का वर्णन करते हुए लिखा है—

एतेषां वेदपंचाशद्भेदानां वर्णनं पृथक्।

कथितं पंचमे खंडे कुमारेण सुविन्दुना॥१४॥

अर्थात्— इन उत्पातों के ५४ भेदों का अलग-अलग वर्णन कुमारविन्दु ने पाँचवें खण्ड में किया है। इससे साफ जाहिर है कि ग्रन्थकर्ता ने कुमारविन्दु के कथन को द्वादशांग से श्रेष्ठ और विशिष्ट समझा है तभी उसको देखने की इस प्रकार से प्रेरणा की गई है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि कुमारविन्दु ने भी कोई संहिता जैसा ग्रन्थ बनाया है, जिसमें पाँच खण्ड जरूर हैं। जैन हितैषी के छठे भाग में 'दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ' नाम की जो बृहत् सूची प्रकाशित हुई है उसमें भी कुमारविन्दु के नाम के साथ 'जिनसंहिता' का उल्लेख किया है। यह संहिता अभी तक मेरे देखने में नहीं आई, परन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ 'कुमारविन्दु' नाम के कोई ग्रन्थकर्ता जैन विद्वान् भद्रबाहु श्रुतकेवली से पहले नहीं हुए। अस्तु। द्वादशांग श्रुत और श्रुतकेवली के स्वरूप का विचार करते हुए,

इन सब कथनों पर से यह ग्रन्थ भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ प्रतीत नहीं होता।

३. भद्रबाहु श्रुतकेवली राजा श्रेणिक से लगभग १२५ वर्ष पीछे हुए हैं। इसलिए राजा श्रेणिक से उनका कभी साक्षात्कार नहीं हो सकता, परन्तु इस ग्रन्थ के दूसरे खण्ड में, एक स्थान पर, दरिद्रयोग का वर्णन करते हुए, उन्हें साक्षात् राजा श्रेणिक से मिला दिया है और लिख दिया है कि यह कथन भद्रबाहु मुनि ने राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में किया है। यथा—

अथातः संप्रवक्ष्यामि दारिद्रं दुःखकारणं।

लग्नाधिपे रिष्कगते रिष्केशे लग्नमागते॥ अ.४१, श्लो.६५॥

मारकेशयुते दृष्टे जातः स्यान्निर्धनो नरः।

भद्रबाहुमुनिप्रोक्तः नृपश्रेणिकप्रश्नतः॥-६६॥

पाठक समझ सकते हैं कि ऐसा मोटा झूठ और ऐसा असत्य उल्लेख क्या कभी भद्रबाहु श्रुतकेवली जैसे मुनियों का हो सकता है? कभी नहीं। मुनि तो मुनि, साधारण धर्मात्मा गृहस्थ का भी यह कार्य नहीं हो सकता। इससे ग्रन्थकर्ता का, असत्यवक्तृत्व और छल पाया जाता है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि वे कोई ऐसे ही योग्य व्यक्ति थे जिनको भद्रबाहु और राजा श्रेणिक के समय तक की भी खबर नहीं थी। हिन्दुओं के यहाँ ‘बृहत्पाराशरी होरा’ नाम का एक बहुत बड़ा ज्योतिष का ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के ३१वें अध्याय में, दरिद्रयोग का वर्णन करते हुए, सबसे पहले जो श्लोक दिया है वह इस प्रकार है—

“लग्नेशे वै रिष्कगते रिष्केशे लग्नमागते।

मारकेशयुते दृष्टे जातः स्यान्निर्धनो नरः॥१॥

ऊपर उद्धृत किये हुए संहिता के दोनों पद्यों में से पहले पद्य का पूर्वार्द्ध और दूसरे पद्य का उत्तरार्द्ध अलग कर देने से यही श्लोक शेष रह जाता है। सिर्फ ‘लग्नेशे वै’ के स्थान में ‘लग्नाधिपे’ का परिवर्तन है। इस श्लोक के आगे पीछे लगे हुए उपर्युक्त दोनों आधे-आधे पद्य बहुत ही खटकते हैं और असम्बद्ध मालूम होते हैं। दूसरे पद्य का उत्तरार्द्ध तो बहुत ही असम्बद्ध जान पड़ता है। उसके आगे इस प्रकरण के ९ पद्य और दिये हैं, जो उक्त होरा के प्रकरण में भी श्लोक नं० १ के बाद पाये जाते हैं। इससे मालूम होता है कि संहिता का यह सब प्रकरण उक्त होरा ग्रन्थ से उठाकर रखा गया है और उसे भद्रबाहु का बनाने की चेष्टा की गई है। इस प्रकार की चेष्टा अन्यत्र भी पाई जाती है और इस ‘पाराशरी होरा’ से और भी बहुत से श्लोकों का संग्रह किया गया है जिसका परिचय पाठकों को अगले लेख में कराया जायेगा।

४. इस ग्रन्थ के दूसरे ज्योतिष खण्ड में (केवल काल नाम के ३४वें अध्याय में) पंचम काल का वर्णन करते हुए शक, विक्रम और प्रथम कल्की का भी कुछ थोड़ा-सा वर्णन दिया है, जिसका हिन्दी आशय इस प्रकार है—

“वर्धमानस्वामी को मुक्ति प्राप्त होने पर ६०५ वर्ष और पाँच महीने छोड़कर प्रसिद्ध शक राजा

हुआ (अभवत्)। उससे शक संवत् प्रवर्तैगा (प्रवत्स्यति)। ४७० वर्ष से (?) प्रभु विक्रम राजा उज्जयिनी में अपना संवत् चलावेगा (वर्तयिष्यति)। शक राजा के बाद ३९४ वर्ष और सात महीने बीतने पर सद्धर्म का द्वेषी और ७० वर्ष की आयु का धारक 'चतुर्मुख' नाम का पहला कल्की हुआ (आसीत्)। उसने एक दिन अजितभूम नाम के मंत्री को यह आज्ञा दी (आदिशत्) कि 'पृथ्वी पर निर्ग्रन्थ मुनि हमारे अधीन नहीं हैं।' उनके पाणिपात्र में सबसे पहले जो ग्रास रखा जाये उसे तुम कर के तौर पर ग्रहण करो। इस नरक की कारणभूत आज्ञा को सुनकर मूढबुद्धि मंत्री ने वैसा ही किया (अकरोत्)। इस उपद्रव के कारण मुनिजन राजा से व्याकुल हुए (आसन्)। उस उपसर्ग को जानकर जिनशासन के रक्षक असुरेन्द्र चतुर्मुख को मार डालेंगे (हनिष्यन्ति)। तब वह पापात्मा कल्की मरकर अपने पाप की वहज से समस्त दुःखों की खान पहले नरक में गया (गतः)। उसी समय कल्की का जयध्वज नाम का पुत्र सुरेन्द्र के भय से सुरेन्द्र के किये हुए जिनशासन के माहात्म्य को प्रत्यक्ष देखकर और काललब्धि के द्वारा सम्यक्त्व को पाकर अपनी सेना और बन्धुजनादि सहित सुरेन्द्र की शरण गया (जगाम)॥४७-५७॥''

ऊपर के इस वर्णन को पढ़कर निःसंदेह पाठकों को कौतुक होगा! उन्हें इसमें भूतकाल और भविष्यत्काल की क्रियाओं का बड़ा ही विलक्षण योग देखने में आयेगा। साथ ही, ग्रन्थकर्ता की योग्यता का भी अच्छा परिचय मिल जायेगा। परन्तु यहाँ ग्रन्थकर्ता की योग्यता का परिचय कराना इष्ट नहीं है, इसका विशेष परिचय दूसरे लेख द्वारा कराया जायेगा, यहाँ पर सिर्फ यह देखने की जरूरत है कि इस वर्णन से ग्रन्थ के सम्बन्ध में किस बात का पता चलता है। पता इस बात का चलता है कि यह ग्रन्थ भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ न होकर शक संवत् ३९५ अथवा विक्रम सं० ५३० से भी पीछे का बना हुआ है। यही वजह है कि इसमें उक्त समय से पहले की घटनाओं (प्रथमकल्की का होना आदि) का उल्लेख भूतकाल की क्रियाओं द्वारा पाया जाता है। ऊपर का सारा वर्णन भूतकाल की क्रियाओं से भरा हुआ है उसका प्रारंभ भी भूतकाल की क्रिया से हुआ है और अंत भी भूतकाल की क्रिया से, सिर्फ मध्य में तीन जगह भविष्यत्काल की क्रियाओं का प्रयोग है जो बिल्कुल असम्बद्ध मालूम होता है। इस असम्बद्धता का विशेष अनुभव प्राप्त करने के लिए मूल श्लोकों को देखना चाहिए जो इस प्रकार हैं—

त्यक्त्वा संवत्सरान्यंचाधिकषट्संमितान्।
 पंचमासयुतान्मुक्तिं वर्द्धमाने गते सति॥४७॥
 शकराजोऽभवत् ख्यातः तेन शाकः प्रवत्स्यति।
 चतुर्वर्षशतैः सप्तत्यधिकैर्विक्रमो नृपः।
 उज्जयिन्यां प्रभुः स्वस्य वत्सरं वर्तयिष्यति॥४८॥
 उपसर्गे विदित्वा तं मुनीनामसुराधिपः।
 चतुर्मुखं हनिष्यन्ति जिनशासनरक्षकः॥५४॥

इनमें से दूसरा श्लोक (नं० ४८) वास्तव में डेढ़ श्लोक है। उसके पूर्वार्द्ध का सम्बन्ध पहले श्लोक (नं० ४७) से मिलता है, परन्तु शेष दोनों अर्ध भागों का कोई सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। 'त्यक्त्वा' शब्द के साथ 'चतुर्वर्षशतैः सप्तत्यधिकैः' इन पदों का कुछ भी मेल नहीं है। इसी प्रकार 'अभवत्' के साथ 'प्रवत्स्यति' क्रिया का भी कोई मेल नहीं है। प्रवर्तते क्रिया का सम्बन्ध ठीक बैठ सकता है। तीसरे श्लोक (नं० ५४) में 'हनिष्यन्ति' यह क्रिया बहुवचनात्मक है और इसका कर्ता 'असुराधिपः' एकवचनात्मक दिया है। इससे क्रिया का यह प्रयोग गलत है। यदि इस क्रिया को एक वचन की क्रिया 'हनिष्यति' समझ लिया जाये, तो भी काम नहीं चलता उससे छंदोभंग होता है। इसलिए यह क्रिया किसी तरह भी ठीक नहीं बैठती। इसके स्थान में परोक्षभूत की क्रिया को लिये हुए 'जघानेति' पद का प्रयोग बहुत ठीक हो सकता है और उससे आगे-पीछे का सारा सम्बन्ध मिल जाता है। परन्तु यहाँ ऐसा नहीं है। अस्तु। इन्हीं सब बातों से यह कथन एक विलक्षण कथन हो गया है। अन्यथा, ग्रन्थ में, इसके आगे 'जलमंथन' नाम के कल्की का-जिसका अवतार अभी तक भी नहीं हुआ-पाँचवें काल के अंत में होना कहा जाता है, जो वर्णन दिया है उसमें इस प्रकार की विलक्षणता नहीं है। उसका सारा वर्णन भविष्यत्काल की क्रियाओं को लिये हुए है। तब यह प्रश्न सहज ही उठ सकता है कि इसी वर्णन के साथ यह विलक्षणता क्यों है? इसका कोई कारण जरूर होना चाहिए। मेरे ख्याल में कारण यह है कि यह सारा प्रकरण ही नहीं बल्कि संभवतः सारा अध्याय किसी ऐसे पुराणादिक ग्रन्थ से उठाकर यहाँ रखा गया है जो विक्रम संवत् ५३० से बहुत पीछे का बना हुआ था। ग्रन्थकर्ता ने ऊपर के वर्णन का भद्रबाहु के साथ सम्बन्ध मिलाने और उसे भद्रबाहु की भविष्यद्वाणी प्रकट करने के लिए उसमें भविष्यत्काल की क्रियाओं का परिवर्तन किया है। परन्तु मालूम होता है कि वह सब क्रियाओं को यथेष्ट रीति से बदल नहीं सका। इसी से इस वर्णन में इस प्रकार की विलक्षणता और असम्बद्धता का प्रादुर्भाव हुआ है। मेरा यह उपर्युक्त ख्याल और भी दृढ़ता को प्राप्त होता है जबकि इस अध्याय के अंत में यह श्लोक देखने को मिलता है—

इत्येतत्कालचक्रं च केवलं भ्रमणान्वितं।

षड्भेदं संपरिज्ञाय शिवं साधयतं नृप॥१२४॥

इस श्लोक में लिखा है कि हे राजन्! इस प्रकार से केवल भ्रमण को लिये हुए इस छह भेदों वाले कालचक्र को भले प्रकार जानकर तुम अपना कल्याण साधन करो। यहाँ पर पाठकों को यह बतला देना जरूरी है कि इस ग्रन्थ में इससे पहले किसी राजा का कोई सम्बन्ध नहीं है और न किसी राजा के प्रश्न पर इस ग्रन्थ की रचना की गई है, जिसको संबोधन करके यहाँ पर यह वाक्य कहा जाता। इसलिए यह वाक्य यहाँ पर बिल्कुल असम्बद्ध है और इस बात को सूचित करता है कि यह प्रकरण किसी ऐसे पुराणादिक ग्रन्थ से उठाकर रखा गया है जो वि०सं० ५३० के बाद का बना हुआ है और जिसमें किसी राजा को लक्ष्य करके अथवा उसके प्रश्न पर इस सारे कथन की रचना की गई है और इसलिए यह उस ग्रन्थ से भी बाद का बना हुआ है।

५. एक स्थान पर, दूसरे खण्ड में, निमित्ताध्याय का वर्णन करते हुए, ग्रन्थकर्ता ने यह प्रतिज्ञा वाक्य दिया है—

पूर्वाचार्यैर्यथा प्रोक्तं दुर्गाद्येलादिभिर्यथा।

गृहीत्वा तदभिप्रायं तथा रिष्टं वदाम्यहम्॥३०-१०॥

अर्थात्— ‘दुर्गादि और एलादिक नाम के पूर्वाचार्यों ने रिष्ट सम्बन्ध में जैसा कुछ वर्णन किया है उसके अभिप्राय को लेकर मैं वैसे ही यह रिष्ट का कथन करता हूँ’। इस प्रतिज्ञावाक्य से स्पष्ट है कि ग्रन्थकर्ता ने दुर्गादिक और एलादिक नाम के आचार्यों को ‘पूर्वाचार्य’ माना है। वे ग्रन्थकर्ता से पहले हो गये हैं और उन्होंने रिष्ट या अरिष्ट के सम्बन्ध में कोई ग्रन्थ लिखे हैं जिनके आधार से ग्रन्थकर्ता ने यहाँ कथन की प्रतिज्ञा की है। ऐसी हालत में उक्त आचार्यों और उनके ग्रन्थ की खोज लगाने की जरूरत पैदा हुई। खोज लगाने से मालूम हुआ कि भद्रबाहु श्रुतकेवली से पहले इस नाम के कोई भी उल्लेख योग्य आचार्य नहीं हुए। एक एलाचार्य भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य का दूसरा नाम है। दूसरे एलाचार्य चित्रकूटपुरनिवासी कहे जाते हैं जिनसे वीरसेनाचार्य ने सिद्धान्तशास्त्र पढ़ा था और जिनका उल्लेख इन्द्रनन्दि ने अपने ‘श्रुतावतार’ ग्रन्थ में किया है। तीसरे एलाचार्य भट्टारक हैं, जिनका नाम ‘दिगं जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ’ नाम की सूची में दर्ज है, और जिनके नाम के साथ उनके बनाये हुए ग्रन्थों में सिर्फ ‘ज्वालामालिनी कल्प’ नाम के किसी ग्रन्थ का उल्लेख है। ये तीनों एलाचार्य भद्रबाहु श्रुतकेवली से उत्तरोत्तर कई-कई शताब्दी बाद हुए माने जाते हैं। इनमें से किसी भी आचार्य का बनाया हुआ रिष्ट विषय का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ। ‘दुर्ग’ नाम के आचार्य की खोज लगाते हुए ‘जैन ग्रन्थावली’ से मालूम हुआ कि ‘दुर्गदेव’ नाम के किसी जैनाचार्य ने ‘रिष्टसमुच्चय’ नाम का कोई ग्रन्थ बनाया है और वह ग्रन्थ जैनियों के किसी भी प्रसिद्ध भण्डार में न होकर ‘दक्कनकॉलेज पूना’ की लायब्रेरी में मौजूद है। चूँकि यह ग्रन्थ उसी विषय से सम्बन्ध रखता था, जिसके कथन की प्रतिज्ञा का ऊपर उल्लेख है, इसलिए इसको मँगाने की कोशिश की गई। अंत को, श्रीयुत पं० नाथूराम जी प्रेमी ने अपने मित्र श्रीयुत मोहनलाल दलीचंद जी देसाई, वकील बम्बई हाईकोर्ट की मार्फत पूना की लायब्रेरी से उक्त ग्रन्थ को मँगाकर उसे मेरे पास भेज देने की कृपा की। देखने से मालूम हुआ कि ग्रन्थ प्राकृत भाषा में है, उसमें २६० (२५८+२) गाथायें हैं और उसकी वह प्रति एक पुरानी और जीर्ण-शीर्ण है। बड़ी सावधानी से संहिता के साथ उसका मिलान किया गया और मिलान से निश्चय हुआ कि, ऊपर के प्रतिज्ञावाक्य में जिन ‘दुर्ग’ नाम के आचार्य का उल्लेख है वे निःसंदेह ये ही ‘दुर्गदेव’ हैं और इनके इसी ‘रिष्टसमुच्चय’ शास्त्र के आधार पर संहिता के इस प्रकरण की प्रधानता से रचना हुई है। वास्तव में इस शास्त्र की १०० से भी अधिक गाथाओं का आशय और अनुवाद इस संहिता में पाया जाता है। अनुवाद में बहुधा मूल के शब्दों का अनुकरण है और इसलिए अनेक स्थानों पर, जहाँ छंद भी एक है, वह मूल का छायामात्र हो गया है। नमूने के तौर पर यहाँ दोनों ग्रन्थों से कुछ पद्य उद्धृत किये जाते हैं जिससे इस विषय का पाठकों को अच्छा अनुभव हो जाये—

१. करणचरणेषु अ तोयं, दिन्नं परिसुसइ जस्स निब्भंतं।
सो जीवइ दियह तयं, इह कहिअं पुव्वसूरीहिं॥३१॥ (रिष्टस.)
पाणिपादोपरि क्षिप्तं तोयं शीघ्रं विशुष्यति।
दिनत्रयं च तस्यायुः कथितं पूर्वसूरिभिः॥१८॥ (भद्र. संहिता)
२. बीआए ससिबिंबं, नियइ तिसिंगं च सिंगपरिहीणं।
उवरम्मि धूमछायं, अह खंडं सो न जीवेइ॥६५॥ (रि. सं०)
द्वितीयायाः शशिबिंबं, पश्येत्तिशृंगं च शृंगपरिहीनं।
उपरि सधूमच्छायं, खंडं वा तस्य गतमायुः॥४३॥ (संहिता)
३. अहव मयंकविहीणं, मलिणं चंदं च पुरिससारित्थं।
सो जीयइ मासमेगं, इय दिट्ठं पुव्वसूरीहिं॥६६॥ (रि. सं०)
अथवा मृगांकहीनं, मलिनं चंद्रं च पुरुषसादृश्यं।
प्राणी पश्यति नूनं, मासादूर्ध्वं भवान्तरं याति॥४४॥ (संहिता)
४. इय मंतियसव्वंगो, मंती जोएउ तत्थ वर छायां।
सुहदियहे पुव्वण्हे, जलहरपवणेण परिहीणे॥७१॥ (रि.)
इति मंत्रितसर्वांगो, मंत्री पश्यन्नरस्य वरछायां।
शुभदिवसे पूर्वाण्हे, जलधरपवनेन परिहीनं॥४९॥ (संहिता)

दुर्ग देव का यह 'रिष्ट समुच्चय' शास्त्र विक्रम संवत् १०८९ का बना हुआ है जैसा कि इसकी प्रशस्ति में दिये हुए निम्न पद्य से प्रकट है—

संवत्थर इगसहसे बीलोणे नवयसीइ संजुत्ते।
सावणसुक्के यारसि दियहम्मि मूलरिक्खम्मि॥२५७॥

दुर्ग देव का समय मालूम हो जाने से, ग्रन्थ मुख से ही, यह विषय बिल्कुल साफ हो जाता है और इसमें कोई संदेह बाकी नहीं रहता कि यह भद्रबाहुसंहिता ग्रन्थ भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ नहीं है, न उनके किसी शिष्य प्रशिष्य का बनाया हुआ है और न वि०सं० १०८९ से पहले ही का बना हुआ है। बल्कि उक्त संवत् से बाद का विक्रम की ११ वीं शताब्दी से पीछे का बना हुआ है और किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा बनाया गया है जो विशेष बुद्धिमान न होकर साधारण मोटी अकल का आदमी था। यही वजह है कि उसे ग्रन्थ में उक्त प्रतिज्ञा वाक्य को रखते हुए यह ख्याल नहीं आया कि मैं इस ग्रन्थ को भद्रबाहु श्रुतकेवली के नाम से बना रहा हूँ— उसमें १२ सौ वर्ष पीछे होने वाले विद्वान् का नाम और उसके ग्रन्थ का प्रमाण न आना चाहिए। मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ता ने जिस प्रकार अन्य अनेक प्रकरणों को दूसरे ग्रन्थों से उठाकर रखा है उसी प्रकार यह रिष्ट कथन या कालज्ञान का प्रकरण भी उसने किसी दूसरे ग्रन्थ से उठाकर रखा है और उसे इसके उक्त प्रतिज्ञा वाक्य को बदलने

या निकाल देने का स्मरण नहीं रहा। सच है 'झूठ छिपाये से नहीं छिपता'। फारसी की यह कहावत यहाँ बिल्कुल सत्य मालूम होती है कि "दरोग गौरा हाफ़जा न वाशद" अर्थात् असत्यवक्ता में धारण और स्मरण शक्ति की त्रुटि होती है। वह प्रायः पूर्वापर का यथेष्ट सम्बन्ध सोचे बिना मुँह से जो आता है निकाल देता है। उसे अपना असत्य छिपाने के लिए आगे पीछे के कथन का ठीक सम्बन्ध उपस्थित नहीं रहता। इस बात का पूरा ख्याल नहीं रहता कि मैंने अभी क्या कहा था और अब क्या कह रहा हूँ। मेरा यह कथन पहले कथन के अनुकूल है या प्रतिकूल, इसलिए वह पकड़ में आ जाता है और उसका सारा झूठ खुल जाता है। ठीक यही हालत कूटलेखकों और जाली ग्रन्थ बनाने वालों की होती है। वे भी असत्यवक्ता हैं। उन्हें भी इस प्रकार की बातों का पूरा ध्यान नहीं रहता और इसलिए एक न एक दिन उन्हीं की कृति से उनका वह सब कूट और जाल पकड़ा जाता है और सर्व साधारण पर खुल जाता है। यही सब यहाँ पर भी हुआ है। इसमें पाठकों को कुछ आश्चर्य करने की जरूरत नहीं है। आश्चर्य उन विद्वानों की बुद्धि पर होना चाहिए जो ऐसे ग्रन्थ को भी भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ मान बैठे हैं। अस्तु। अब इस लेख में आगे यह दिखलाया जायेगा कि यह ग्रन्थ विक्रम की ११वीं शताब्दी से कितने पीछे का बना हुआ है।

६. वसुनन्दि आचार्य का बनाया हुआ 'प्रतिष्ठासारसंग्रह' नाम का एक प्रसिद्ध प्रतिष्ठापाठ है। इस प्रतिष्ठापाठ के दूसरे परिच्छेद में ६२ श्लोक हैं, जिनमें 'लग्नशुद्धि' का वर्णन है और तीसरे परिच्छेद में ८८ श्लोक हैं, जिनमें 'वास्तुशास्त्र' का निरूपण है। दूसरे परिच्छेद के श्लोकों में से लगभग ५० श्लोक और तीसरे परिच्छेद के श्लोकों में से लगभग ६० श्लोक इस ग्रन्थ के दूसरे खण्ड में क्रमशः 'मुहूर्त' और 'वास्तु' नाम के अध्यायों में उठाकर रखे गये हैं। उनमें से दो श्लोक नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं—

पुनर्वसूत्तरापुष्पहस्तश्रवणरेवती- ।

रोहिण्यश्विमृगर्क्षेषु प्रतिष्ठां कारयेत्सदा॥२७-११॥

जन्मनिष्क्रमणस्थानज्ञाननिर्वाणभूमिषु ।

अन्येषु पुण्यदेशेषु नदीकूलनगेषु च॥३५-४॥

इनमें से पहला श्लोक उक्त प्रतिष्ठापाठ के दूसरे परिच्छेद में नं० ५ पर और दूसरा श्लोक तीसरे परिच्छेद में नं० ३ पर दर्ज है। इससे प्रकट है कि यह ग्रन्थ 'प्रतिष्ठासारसंग्रह' से पीछे का बना हुआ है। इस प्रतिष्ठापाठ के कर्ता वसुनन्दि का समय विक्रम की १२वीं-१३वीं शताब्दी पाया जाता है। इसलिए यह ग्रन्थ, जिसमें वसुनन्दि के वचनों का उल्लेख है, वसुनन्दि से पहले का न होकर विक्रम की १२वीं शताब्दी के बाद का बना हुआ है।

७. पंडित आशाधर और उनके बनाये हुए 'सागारधर्माभूत' से पाठक जरूर परिचित होंगे। सागारधर्माभूत अपने टाइप का एक अलग ही ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के बहुत से पद्य संहिता के पहले खण्ड में पाये जाते हैं, जिनमें से दो पद्य इस प्रकार हैं—

धर्म यशः शर्म च सेवमानाः
केप्येकशः जन्म विदुः कृतार्थम्।

अन्ये द्विशो विद्म वयं त्वमोघा-

न्यहानि यान्ति त्रयसेवयैव॥३-३६३॥
निर्व्याजया मनोवृत्त्या सानुवृत्त्या गुरोर्मनः॥
प्रविश्य राजवच्छश्वद्विनयेनानुरंजयेत्॥१०-७२॥

इनमें से पहला पद्य सागारधर्माभूत के पहले अध्याय का १४ वाँ और दूसरा पद्य दूसरे अध्याय का ४६वाँ पद्य है। इससे साफ जाहिर है कि यह संहिता सागारधर्माभूत के बाद की बनी हुई है। सागारधर्माभूत को पं० आशाधर जी ने टीका सहित बनाकर विक्रम संवत् १२९६ में समाप्त किया है। इसलिए यह संहिता भी उक्त संवत् के बाद की विक्रम की १३ वीं शताब्दी से पीछे की बनी हुई है।

८. इस ग्रन्थ के तीसरे खण्ड में, 'फल' नामक नौवें अध्याय का वर्णन करते हुए सबसे पहले जो श्लोक दिया है, वह इस प्रकार है-

प्रणम्य वर्धमानं च जगदानंददायकम्।
प्रणिधाय मनो राजन् सर्वेषां शृणु तत्फलम्॥१॥

यह श्लोक बड़ा ही विलक्षण है। इसमें लिखा है कि-'जगत् को आनंद देने वाले वर्धमान स्वामी को नमस्कार करके (क्या कहता हूँ, ऐसी प्रतिज्ञा, आगे कुछ नहीं) हे राजन्! तुम उन सबका फल चित्त लगाकर सुनो।' परन्तु इससे यह मालूम न हुआ कि राजा कौन, जिसको संबोधन करके कहा गया और वे सब कौन, जिनका फल सुनाया जाता है। ग्रन्थ में इससे पहले कोई भी ऐसा प्रकरण या प्रसंग नहीं है जिसका इस श्लोक के 'राजन्' और 'तत्' शब्दों से सम्बन्ध हो सके। इसलिए यह श्लोक यहाँ पर बिल्कुल भद्दा और निरा असम्बद्ध मालूम होता है। इसके आगे ग्रन्थ में, श्लोक नं० १८ तक उन १६ स्वप्नों के फल का वर्णन है जिनका सम्बन्ध राजा चंद्रगुप्त से कहा जाता है और जिनका उल्लेख रत्ननन्दि ने अपने भद्रबाहु चरित्र में किया है। स्वप्नों का यह सब फल वर्णन प्रायः उन्हीं शब्दों में दिया है जिनमें कि वह उक्त भद्रबाहुचरित्र के दूसरे परिच्छेद में श्लोक नं० ३२ से ४८ तक पाया जाता है। सिर्फ किसी-किसी श्लोक में दो एक शब्दों का अनावश्यक परिवर्तन किया गया है। जैसा कि नीचे लिखे दो नमूनों से प्रकट है-

१. रवेरस्तमनालोकात्कालेऽत्र पंचमेऽशुभे।

एकादशांगपूर्वादिश्रुतं हीनत्वमेष्यति॥३२॥ -भद्रबाहुचरित्र।

भद्रबाहु संहिता के उक्त 'फल' नाम के अध्याय में यही श्लोक नं० ३ पर दिया है। सिर्फ 'रवेरस्तमनालोकात्' के स्थान में 'स्वप्ने सूर्यास्तावलोकात्' बदला हुआ है।

२. तुंगमातंगमासीनशाखामृगनिरीक्षणात्।

राज्यं हीना विधास्यन्ति कुकुला न च बाहुजाः॥४३॥

भद्रबाहुसंहिता के उक्त अध्याय में यह भद्रबाहु चरित्र का श्लोक नं० १३ पर दिया है। सिर्फ 'बाहुजाः' के स्थान में उसका पर्यायवाचक पद 'क्षत्रियः' बनाया गया है। भद्रबाहु चरित्र में, इस फलवर्णन से पहले, राजा चंद्रगुप्त और उसके स्वज्जादिकों का सब सम्बन्ध देकर उसके बाद नीचे लिखा वाक्य दिया है, जिससे वहाँ पर 'राजन्' और 'तत्' शब्दों का सम्बन्ध ठीक बैठता है और उस वाक्य में भी कोई असम्बद्धता मालूम नहीं होती—

प्रणिधाय मनो राजन् समाकर्णय तत्फलम्॥३१॥

यह वही वाक्य है जो जरा से गैर जरूरी परिवर्तन के साथ ऊपर उद्धृत किये हुए श्लोक नं० १ का उत्तरार्द्ध बनाया गया है। इन सब बातों से जाहिर है कि यह सब प्रकरण रत्ननन्दि के भद्रबाहु चरित्र से उठाकर यहाँ रखा गया है और इसलिए यह ग्रन्थ उक्त भद्रबाहु चरित्र से पीछे का बना हुआ है। रत्ननन्दि का भद्रबाहु चरित्र विक्रम की १६ वीं शताब्दी के अंत का या १७ वीं शताब्दी के शुरू का बना हुआ माना जाता है। परन्तु इसमें तो किसी को भी कोई संदेह नहीं है कि वह वि०सं० १५२७ के बाद बना हुआ जरूर है। क्योंकि उसके चौथे अधिकार में इस संवत् का लुंकामत (ढूँढियामत) की उत्पत्तिकथन के साथ उल्लेख किया है।^७ ऐसी हालत में यह ग्रन्थ वि०सं० १५२७ से पीछे का बना हुआ है, इसमें कुछ संदेह नहीं हो सकता।

९. हिन्दुओं के ज्योतिष ग्रन्थों में 'ताजिक नीलकंठी' नाम का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह अनन्तदैवज्ञ के पुत्र 'नीलकंठ' नाम के प्रसिद्ध विद्वान् का बनाया हुआ है। इसके बहुत से पद्य, संहिता के दूसरे खण्ड में 'विरोध' नाम के ४३ वें अध्याय में कुछ परिवर्तन के साथ पाये जाते हैं। यहाँ पर उनमें से कुछ पद्य, उदाहरण के तौर पर, उन पद्यों के साथ प्रकाशित किये जाते हैं जिन पर से वे कुछ परिवर्तन करके बनाये गये मालूम होते हैं—

१. क्रूरमूशरिफोऽब्देशो जन्मेशः क्रूरितः शुभैः।
कंबूलेपि विपन्मृत्युरित्थमन्याधिकारतः॥२-३-४॥ ताजिक नीलकंठी।
अब्देशः क्रूरमूशरिफः शुभैर्जन्मेशः क्रूरितः।
कंबूलेपि विपन्मृत्युरित्थं वर्षेशमुन्थहे॥४८॥ भ. संहिता।
२. अस्तगौ मुथहालग्ननाथौ मंदेक्षितौ यदा।
सर्वनाशोमृतिः कष्टमाधिव्याधिभयं भवेत्॥-५॥ ता. नी.
यदा मंदेक्षितौ मुथहा-लग्ननाथवधो गतौ।
सर्वनाशो मृतिः कष्टमाधिव्याधिरुजां भयं॥४७॥ भ. सं०

७. यथा— मृते विक्रमभूपाले सप्तविंशतिसंयुते, दशपंचशतेऽब्दानामतीते शृणुता परम् ॥१५७॥

लुंकामतमभूदेकं लोपकं धर्मकर्मणः। देशेऽत्रगौजरि ख्याते विद्वत्ताजितनिजि॥१५८॥

गुरुः केन्द्रे त्रिकोणे वा पापादृष्टः शुभेक्षितः ।

लग्नचन्द्रेन्थिहारिष्टं विनश्यार्थसुखं दिशेत्॥४-२॥ ता. नी.

पापादृष्टो गुरुः केन्द्रे त्रिकोणे वा शुभेक्षितः ।

लग्नसोमेन्थिहारिष्टं विनश्यार्थसुखं दिशेत्॥५६॥ भ. सं०

ऊपर के पद्यों से पाठकों को दो बातें मालूम होंगी। एक यह कि नीलकंठी के पद्यों से संहिता के पद्यों में जो भेद है वह प्रायः नीलकंठी के शब्दों को आगे पीछे कर देने या किसी शब्द के स्थान में उसका पर्यायवाचक शब्द रख देने मात्र से उत्पन्न किया गया है और इससे परिवर्तन का अच्छा अनुभव हो जाता है। इस परिवर्तन के द्वारा दूसरे पद्य के पहले चरण में एक अक्षर बढ़ गया है—८ के स्थान में ९ अक्षर हो गये हैं और चौथे चरण में ‘व्याधि’ के होते हुए ‘रुज्’ शब्द व्यर्थ पड़ा है। दूसरी बात यह है कि इन पद्यों में मूशरिफ (मुशरिफ), कंबूल (कंबूल), मुथहामुन्थहा (मुन्तिही), इन्थिहा (इन्तिहा) ये शब्द जो पाये जाते हैं वे संस्कृत भाषा के शब्द नहीं हैं। अरबी-फारसी भाषा के परिवर्तित रूप हैं। ताजिकग्रन्थों की उत्पत्ति यवन ज्योतिष पर से हुई है, जिसको बहुत अधिक समय नहीं बीता, इसलिए इन शब्दों को यवन ज्योतिष में प्रयुक्त संज्ञाओं के अपभ्रंशरूप समझना चाहिए। दूसरे पद्यों में ‘इत्थिसाल’ (इत्तिसाल) आदि और भी इस प्रकार के अनेक शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। अस्तु। इन सब बातों से मालूम होता है कि संहिता में यह सब प्रकरण या तो नीलकंठी से परिवर्तित करके रखा गया है अथवा किसी ऐसे ग्रन्थ से उठाकर रखा गया है जो नीलकंठी पर से बना है और इसलिए यह संहिता ‘ताजिक नीलकंठी’ से पीछे बनी हुई है, इसमें कोई संदेह नहीं रहता। नील-कंठ का समय विक्रम की १७वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। उनके पुत्र गोविन्द दैवज्ञ ने, अपनी ३४ वर्ष की अवस्था में, ‘मुहूर्तचिन्तामणि’ पर ‘पीयूषधारा’ नाम की एक विस्तृत टीका लिखी है और उसे शक सं० १५२५ अर्थात् वि०सं० १६६० में बनाकर समाप्त किया है। इस समय से लगभग २० वर्ष पहले का समय ताजिक नीलकंठी के बनने का अनुमान किया जाता है और इसलिए कहना पड़ता है कि यह संहिता विक्रम संवत् १६४० के बाद की बनी हुई है।

१०. इस ग्रन्थ के दूसरे खण्ड में, २७ वें अध्याय का प्रारंभ करते हुए सबसे पहले यह वाक्य दिया है—

तत्रादौ च मुहूर्तानां संग्रहः क्रियते मया॥

यद्यपि इस वाक्य में आये हुए ‘तत्रादौ’^८ शब्दों का ग्रन्थभर में पहले के किसी भी कथन से कोई सम्बन्ध नहीं है और इसलिए वे कथन की असम्बद्धता को प्रकट करते हुए इस बात को सूचित करते हैं कि यह वाक्य किसी दूसरे ग्रन्थ से उठाकर रखा गया है, जहाँ उसे उक्त ग्रन्थ के कर्ता ने अपने प्रकरणानुसार दिया होगा। परन्तु इसे छोड़कर इस वाक्य में मुहूर्तों का संग्रह करने की प्रतिज्ञा की गई है। लिखा है कि मेरे द्वारा मुहूर्तों का संग्रह किया जाता है, अर्थात् मैं इस अध्याय में मुहूर्तों का संग्रह

८. इसका अर्थ होता है—वहाँ, आदि में, उसके आदि में, अथवा उनमें सबसे पहले।

करता हूँ। यह वाक्य श्रुतकेवली का बतलाया जाता है। ऐसी हालत में पाठक सोचें और समझें कि यह कैसा अनोखा और असंमजस मालूम होता है। श्रुतकेवली और मुहूर्तों का संग्रह करें? जो स्वयं द्वादशांग के पाठी और पूर्ण ज्ञानी हों जिनका प्रत्येक वाक्य संग्रह किये जाने के योग्य हो वे खुद ही इधर-उधर से मुहूर्तों के कथन को इकट्ठा करते फिरें, यह कभी नहीं हो सकता। वास्तव में यह सारा ही ग्रन्थ भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ न होकर इधर-उधर के प्रकरणों का एक बेढंगा संग्रह है जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है और अगले लेखों में, असम्बद्ध विरुद्धादि कथनों का उल्लेख करते हुए और भी अच्छी तरह से दिखलाया जायेगा। इसलिए इस ग्रन्थ में उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार मुहूर्तों का भी अनेक ग्रन्थों पर से संग्रह किया गया है। अर्थात् दूसरे ग्रन्थों के वाक्यों को उठा उठाकर रखा है। उन ग्रन्थों में 'मुहूर्तचिन्तामणि' नाम का भी एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसे नीलकंठ के छोटे भाई रामदैवज्ञ ने शक् संवत् १५२२ (वि०सं० १६५७) में निर्माण किया है।^१ इस ग्रन्थ से भी अनेक पद्य उठाकर उक्त अध्याय में रखे गये हैं, जिनमें से एक पद्य, उदाहरण के तौर पर, यहाँ उद्धृत किया जाता है—

क्षिप्रधुवाहिचरमूलमृदुत्रिपूर्वा ,
 रौद्रेऽर्कविद्रुरुसितेन्दुदिने व्रतं सत्।
 द्वित्रीषुरुद्ररविदिक्रमि ते तिथौ च,
 कृष्णादिमत्रिलवकेपि न चापराह्णे॥१४२॥

यह पद्य मुहूर्तचिन्तामणि के पाँचवें संस्कार प्रकरण का ४०वाँ पद्य है। इससे साफ़ जाहिर है कि यह संहिता ग्रन्थ मुहूर्तचिन्तामणि से बाद का अर्थात् वि०सं० १६५७ से पीछे का बना हुआ है।

यहाँ तक के इस सम्पूर्ण कथन से यह तो सिद्ध हो गया कि, यह खण्डत्रयात्मक ग्रन्थ (भद्रबाहुसंहिता) भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ नहीं है, न उनके किसी शिष्य प्रशिष्य का बनाया हुआ है और न वि०सं० १६५७ से पहले ही का बना हुआ है, बल्कि उक्त संवत् से पीछे का बना हुआ है। परन्तु कितने पीछे का बना हुआ है और किसने बनाया है, इतना सवाल अभी और बाकी रह गया है।

भद्रबाहुसंहिता की वह प्रति जो झालरापाटन के भण्डार से निकली है और जिसका ग्रन्थ प्राप्ति के इतिहास में ऊपर उल्लेख किया गया है वि०सं० १६६५ की लिखी हुई है। इससे स्पष्ट है कि, यह ग्रन्थ वि०सं० १६६५ से पहले बन चुका था और वि०सं० १६५७ से पीछे का बनना उसका ऊपर सिद्ध किया जा चुका है। इसलिए यह ग्रन्थ इन दोनों संवत्तों (१६५७-१६६५) के मध्यवर्ती किसी समय में सात आठ वर्ष के भीतर बना है, इसे कहने में कोई संकोच नहीं होता। यही इस ग्रन्थ के अवतार का समय है। अब रही यह बात कि, ग्रन्थ किसने बनाया, इसके लिए झालरापाटन की उक्त प्रति के अंत

१. यथा—तदात्मज उदारधीर्विबुधनीलकंठानुजो, गणेशपदपंकजं हृदि निधाय रामाभिधः।

गिरीशनगरे वरे भुजभुजेषु चंद्रैर्मिते (१५२२), शके विनिरमादिमं मुहूर्तचिन्तामणिम्॥१४-३॥

में दी हुई लेखक की इस प्रशस्ति को गौर से पढ़ने की जरूरत है—

“संवत्सर १६६५ का मृगसिर सुदि १० लिपीकृतं ज्ञानभूषणेन गोपाचलपुस्तकभण्डार धर्मभूषणजी की सुं लिपी। या पुस्तक दे जीनें जिनधर्म का शपथ हजार छै। मुनिपरंपरा सूं विमुख छे। तीसूं न देणी। सूरि भी नहीं देवै। एक वार धर्मभूषण स्वामी दो चार स्थल मांगे दिये सो फेरि पुस्तक नहीं आई। तदि वामदेवजी फेर शुद्धकरि लिपी तयार करी। तीसूं नहीं देणी।”

ऊपर की इस प्रशस्ति से, जो कि ग्रन्थ बनने के अधिक समय बाद की नहीं है, साफ ध्वनित होता है कि यह ग्रन्थ गोपाचल (ग्वालियर) के भट्टारक धर्मभूषणजी की कृपा का एक मात्र फल है। वही उस समय इस ग्रन्थ के सर्व सत्वाधिकारी थे। उन्होंने वामदेव सरीखे अपने किसी कृपापात्र या आत्मीयजन के द्वारा इसे तैयार कराया है, अथवा उसकी सहायता से स्वयं तैयार किया है। तैयार हो जाने पर जब इस ग्रन्थ के दो चार अध्याय किसी को पढ़ने के लिए दिये गये और वे किसी कारण से वापस नहीं मिल सके तब वामदेवजी को फिर से दुबारा उनके लिए परिश्रम करना पड़ा। जिसके लिए प्रशस्ति का यह वाक्य “तदि वामदेवजी फेर शुद्ध करि लिपी तैयार करी” खासतौर से ध्यान दिये जाने के योग्य है और इस बात को सूचित करता है कि उक्त अध्यायों को पहले भी वामदेव ने ही तैयार किया था। मालूम होता है कि लेखक ज्ञानभूषणजी धर्मभूषण भट्टारक के परिचित व्यक्तियों में थे और आश्चर्य नहीं कि वे उनके शिष्यों में भी हो। उनके द्वारा खास तौर से यह प्रति लिखाई गई है। उन्होंने प्रशस्ति में अपने स्वामी धर्मभूषण की ग्रन्थ न देने सम्बन्धी आज्ञा का जो संभवतः उक्त अध्यायों के वापस न आने पर दी गई होगी उल्लेख करते हुए भोलेपन से उसके कारण का भी उल्लेख कर दिया है, जिसकी वजह से ग्रन्थकर्ता के विषय में उपर्युक्त विचारों को स्थिर करने का अवसर मिला है और इसीलिए पाठकों को उनके इस भोलेपन का आभास होना चाहिए। ता० २९-९-१९६१।

(२)

इस ग्रन्थ के साहित्य की जाँच से मालूम होता है कि जिस किसी व्यक्ति ने इस ग्रन्थ की रचना की है वह निःसंदेह अपने घर की अकल बहुत कम रखता था और उसे ग्रन्थ का संपादन करना नहीं आता था। साथ ही, जाली ग्रन्थ बनाने के कारण उसका आशय भी शुद्ध नहीं था। यही वजह है कि उससे, ग्रन्थ की स्वतंत्र रचना का होना तो दूर रहा, इधर-उधर से उठाकर रखे हुए प्रकरणों का संकलन भी ठीक तौर से नहीं हो सका और इसलिए उसका यह ग्रन्थ इधर-उधर के प्रकरणों का एक बेढंगा संग्रह बन गया है। आगे इन्हीं सब बातों का दिग्दर्शन कराया जाता है। इससे पाठकों पर ग्रन्थ का जालीपन और भी अधिकता के साथ खुल जायेगा और साथ ही उन्हें इस बात का पूरा अनुभव हो जायेगा कि ग्रन्थकर्ता महाशय कितनी योग्यता रखते थे—

(१) इस ग्रन्थ के तीसरे खण्ड में तीन अध्याय— चौथा, पाँचवाँ और सातवाँ ऐसे हैं जिनका मूल प्राकृत भाषा में है और अर्थ संस्कृत में दिया है। चूँकि इस संहिता पर किसी दूसरे विद्वान् की कोई टीका या टिप्पणी नहीं है इसलिए उक्त अर्थ उसी दृष्टि से देखा जाता है, जिस दृष्टि से कि शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ।

अर्थात् वह ग्रन्थकर्ता भद्रबाहु का ही बनाया हुआ समझा जाता है, परन्तु ग्रन्थकर्ता को ऐसा करने की जरूरत क्यों पैदा हुई, यह कुछ समझ में नहीं आता। इसके उत्तर में यदि यह कहा जाये कि प्राकृत होने की वजह से ऐसा किया गया तो यह कोई समुचित उत्तर नहीं हो सकता। क्योंकि प्रथम तो ऐसी हालत में जबकि यह सारा ग्रन्थ संस्कृत में रचा गया है, इन अध्यायों को प्राकृत में रचकर ग्रन्थकर्ता का डबल परिश्रम करना ही व्यर्थ मालूम होता है। दूसरे, बहुत से ऐसे प्राकृत ग्रन्थ भी देखने में आते हैं जिनके साथ उनका संस्कृत अर्थ लगा हुआ नहीं है। और न भद्रबाहु के समय में, जबकि प्राकृत भाषा अधिक प्रचलित थी, प्राकृत ग्रन्थों के साथ उनका संस्कृत अर्थ लगाने की कोई जरूरत नहीं थी। तीसरे, इस खण्ड के तीसरे अध्याय में 'उवसग्गहर^१' और 'तिजर्यपहुत्त^२' नाम के दो स्तोत्र प्राकृत भाषा में दिये हैं, जिनके साथ में उनका संस्कृत अर्थ नहीं है। चौथे, पहले खण्ड के पहले अध्याय में कुछ संस्कृत के श्लोक भी ऐसे पाये जाते हैं जिनके साथ संस्कृत में ही उनकी टीका अथवा टिप्पणी लगी हुई है। ऐसी हालत में प्राकृत की वजह से संस्कृत अर्थ का दिया जाना कोई अर्थ नहीं रखता। यदि कठिनता और सुगमता की दृष्टि से ऐसा कहा जाये तो वह भी ठीक नहीं बन सकता। क्योंकि इस दृष्टि से उक्त चारों ही अध्यायों का प्राकृत में कोई विशेष भेद नहीं है। रही संस्कृत श्लोकों की बात, सो वे इतने सुगम हैं कि उन पर टीका टिप्पणी का करना ही व्यर्थ है। नमूने के तौर पर यहाँ दो श्लोक टीका टिप्पणी सहित उद्धृत किये जाते हैं—

१पात्रान्संतर्प्य दानेन भक्त्या भुंजेत्स्वयं पुनः।

भोगभूमिकरः स्वर्गप्राप्तेरुत्तमकारणम्॥८०॥

टीका—पात्रानिति बहुवचनं मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका इति चतुर्विध-पात्रप्रीत्यर्थं। एतेष्वन्यतमं पूर्वमाहारादिदानेन संतर्प्य पुनः स्वयं भुजेत्। पात्रदानं च भोगभूमिस्वर्गप्राप्तेरुत्तमकारणं ज्ञेयमित्यर्थः।

२कांस्यपात्रे न भोक्ताव्यमन्योन्यवर्णजैः कदा।

शूद्रस्त्वपक्वं पक्वं वा न भुंजेदन्यपंक्तिषु॥८४॥

टिप्पणी—पंक्तिषु इति बहुवचनाद्वर्णत्रपंक्तावेव पक्वमपक्वं वा न भुंजेत् इत्यर्थः।

इससे पाठक समझ सकते हैं कि श्लोक कितने सुगम हैं, और उनकी टीका-टिप्पणी में क्या विशेषता की गई है। साथ ही मुकाबले के लिए इससे पहले लेख में और इस लेख के अगले भाग में उद्धृत किये हुए बहुत से कठिन से कठिन श्लोकों को भी देख सकते हैं जिन पर कोई टीका-टिप्पणी नहीं है। और फिर उससे नतीजा निकाल सकते हैं कि कहाँ तक ऐसे श्लोकों की ऐसी टीका-टिप्पणी करना श्रुतकेवली जैसे विद्वानों का काम हो सकता है। सच तो यह है कि यह सब मूल और टीका-टिप्पणी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का कार्य मालूम होता है। मूलकर्ताओं से टीकाकार भिन्न जान पड़ते हैं। सबका ढंग और कथन शैली प्रायः अलग है। चौथे और सातवें अध्यायों की टीका में बहुत से स्थानों

१-२ ये दोनों स्तोत्र श्वेताम्बरों के 'प्रतिक्रमणसूत्र' में भी पाये जाते हैं, परन्तु यहाँ पर उक्त प्रतिक्रमण सूत्र से पहले स्तोत्र में तीन और दूसरे में एक, ऐसी चार गाथायें अधिक हैं।

पर, 'इत्यपि पाठः' ऐसा भी पाठ है यह लिखकर, मूल का दूसरा पाठ भी दिया हुआ है, जो मूल का उल्लेख योग्य पाठ-भेद हो जाने के बाद टीका के बनने को सूचित करता है। यथा—

१. 'वाहिमरणं (व्याधिमरणं)'— 'रायमरणं (राजमरणं) इत्यपि पाठः' ॥४-३०॥

२. 'मेहंतर (मेघान्तर-)'— 'हेमंतर (हेमान्तर-)' इत्यपि पाठः' ॥४-३१॥

३. 'अण्णेणवि (अन्येनापि)— 'अण्णोण्णवि (अन्योन्यमपि-परस्परमपि) इत्यपि पाठः' ॥७-२१॥

इससे मूलकर्ता और टीकाकार की साफ तौर से विभिन्नता पाई जाती है। साथ ही, इन सब बातों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकर्ता इन दोनों से भिन्न कोई तीसरा ही व्यक्ति है। उसे संभवतः ये सब प्रकरण इसी रूप में (टीका-टिप्पणी सहित या रहित) कहीं से प्राप्त हुए हैं और उसने उन्हें वहाँ से उठाकर बिना सोचे समझे यहाँ जोड़ दिया है।

(२) हिन्दुओं के यहाँ ज्योतिषियों में 'वराहमिहिर' नाम के एक प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य हो गये हैं। उनके बनाये हुए ग्रन्थों में 'बृहत्संहिता' नाम का एक खास ग्रन्थ है, जिसको लोग 'वाराहीसंहिता' भी कहते हैं। इस ग्रन्थ का उल्लेख विक्रम की ११वीं शताब्दी में होने वाले 'सोमदेव' नाम के दिगम्बर जैनाचार्य ने भी अपने 'यशस्तिलक' ग्रन्थ में किया है। साथ ही 'जैनतत्त्वादर्श' आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख पाया जाता है। इस तरह पर दोनों संप्रदायों के विद्वानों द्वारा यह हिन्दुओं का एक ज्योतिष ग्रन्थ माना जाता है। परन्तु पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस बृहत्संहिता के अध्याय के अध्याय भद्रबाहुसंहिता में नकल किये गये हैं— ज्यों के त्यों या कहीं-कहीं कुछ भद्दे और अनावश्यक परिवर्तन के साथ उठाकर रखे गये हैं परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी वराहमिहिर या उनके इस ग्रन्थ का कहीं नामोल्लेख तक नहीं किया। प्रत्युत, वराहमिहिर के इन सब वचनों को भद्रबाहु के वचन प्रकट किए गए हैं और इस तरह पर एक अजैन विद्वान् के ज्योतिष कथन को जैन ज्योतिष का ही नहीं बल्कि जैनियों के केवली का कथन बतलाकर सर्व साधारण को धोखा दिया गया है। इस नीचता और धृष्टता के कार्य का पाठक जो चाहे नाम रख सकते हैं और उसके उपलक्ष्य में ग्रन्थकर्ता को चाहे जिस पदवी से विभूषित कर सकते हैं, मुझे इस विषय में कुछ कहने की जरूरत नहीं है। मैं सिर्फ यहाँ पर ग्रन्थकर्ता के इस कृत्य का पूरा परिचय दे देना ही काफी समझता हूँ और वह परिचय इस प्रकार है—

(क) भद्रबाहु संहिता के दूसरे खण्ड में 'करण' नाम का २९ वाँ अध्याय है, जिसमें कुल ९ पद्य हैं। इनमें से शुरू के ६ पद्य बृहत्संहिता के 'तिथि और करण' नाम के ९९वें अध्याय से, जिसमें सिर्फ ८ पद्य हैं और पहले दो पद्य केवल 'तिथि' से सम्बन्ध रखते हैं, ज्यों के त्यों (उसी क्रम से) उठाकर रखे गये हैं। सिर्फ पहले पद्य में कुछ अनावश्यक उलटफेर किया है। बृहत्संहिता का वह पद्य इस प्रकार है—

यत्कार्यं नक्षत्रे तद्वैवत्यासु तिथिषु तत्कार्यं।

करणमुहूर्तेष्वपि तत्सिद्धिकरं देवतासदृशम्॥३॥

भद्रबाहुसंहिता में इसके पूर्वार्द्ध को उत्तरार्द्ध और उत्तरार्द्ध को पूर्वार्द्ध बना दिया है। इससे अर्थ में कोई हेर फेर नहीं हुआ। इन छहों पद्यों के बाद भद्रबाहुसंहिता में सातवाँ पद्य इस प्रकार दिया है—

लाभे तृतीये च शुभैः समेते, पापैर्विहीने शुभराशिलग्ने।

वेध्यौ तु कर्णौ त्रिदशेज्यलग्ने^{१०} तिष्येन्दुचित्राहरिरेवतीषु॥

यह पद्य बृहत्संहिता के 'नक्षत्र' नाम के ९८वें अध्याय से उठाकर रखा गया है, जहाँ इसका नंबर १७ है। यहाँ 'करण' के अध्याय से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके बाद के दोनों पद्य (नं० ८-९) भी इस करण विषयक अध्याय से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। वे बृहत्संहिता के अगले अध्याय नं० १०० से उठाकर रखे गये हैं, जिसका नाम है 'विवाह-नक्षत्रलग्ननिर्णय' और जिसमें सिर्फ ये ही दो पद्य हैं। इन पद्यों में से एक पद्य नमूने के तौर पर इस प्रकार है—

रोहिण्युत्तररेवतीमृगशिरोमूलानुराधामघा -

हस्तस्वातिषु षष्ठ तौलिमिथुनेषूद्यत्सु, पाणिग्रहः।

सप्ताष्टान्त्यबहिः शुभैरुदुपतावेकादशाद्वित्रिगे,

क्रूरैस्त्रयायषडष्टगैर्न तु भृगौ षष्टे कुजे चाष्टमे॥८॥

(ख) बृहत्संहिता में 'वस्त्रच्छेद' नाम का ७१वाँ अध्याय है, जिसमें १४ श्लोक हैं। इनमें से श्लोक नं० १३ को छोड़कर बाकी सब श्लोक भद्रबाहुसंहिता के 'निमित्त' नामक ३०वें अध्याय में नं० १८३ से १९५ तक नकल किये गये हैं। परन्तु इस नकल करने में एक तमाशा किया है, और वह यह है कि अन्तिम श्लोक नं० १४ को तो अन्त में ही उसके स्थान पर (नं० १९५ पर) रखा है। बाकी श्लोकों में से पहले पाँच श्लोकों का एक और उसके बाद के सात श्लोकों का दूसरा ऐसे दो विभाग करके दूसरे विभाग को पहले और पहले विभाग को पीछे नकल किया है। ऐसा करने से श्लोकों के क्रम में कुछ गड़बड़ी हो गई है। अन्तिम श्लोक नं० १९५, जो नूतन वस्त्र धारण का विधान करने वाले दूसरे विभाग के श्लोकों से सम्बन्ध रखता था, पहले विभाग के श्लोकों के अंत में रखे जाने से बहुत खटकने लगा है और असम्बद्ध मालूम होता है। इसके सिवाय अन्तिम श्लोक और पहले विभाग के चौथे श्लोक में कुछ थोड़ा-सा परिवर्तन भी पाया जाता है। उदाहरण के तौर पर यहाँ इस प्रकरण के दो श्लोक उद्धृत किये जाते हैं—

वस्त्रस्य कोणेषु वसन्ति देवा नराश्च पाशान्तदशान्तमध्ये।

शेषास्त्रयश्चात्र निशाचरांशास्तथैव शय्यासनपादुकासु॥१॥

भोक्तुं नवाम्बरं शस्तमृक्षेऽपि गुणवर्जिते।

विवाहे राजसम्माने ब्राह्मणानां च सम्मते॥१४॥

१०. भद्रबाहुसंहिता में 'त्रिदशेज्य' की जगह 'अमरेज्य' बनाया है।

भद्रबाहुसंहिता में पहला श्लोक ज्यों का त्यों नं० १९० पर दर्ज है और दूसरे श्लोक में, जो अन्तिम श्लोक है, सिर्फ 'ब्राह्मणानां च सम्मते' के स्थान में 'प्रतिष्ठामुनिदर्शने' यह पद बनाया गया है।

(ग) वराहमिहिर ने अपनी बृहत्संहिता में अध्याय नं० ८६ से लेकर ९६ तक ११ अध्यायों में 'शकुन' का वर्णन किया है। इन अध्यायों के पद्यों की संख्या कुल ३१९ है। इसके सिवाय अध्याय नं० ८९ के शुरू में कुछ थोड़ा-सा गद्य भी दिया है। गद्य को छोड़कर इन पद्यों में से ३०१ पद्य भद्रबाहुसंहिता के 'शकुन' नाम के ३१वें अध्याय में उठाकर रखे गये हैं और उन पर नम्बर भी उसी (प्रत्येक अध्याय के अलग अलग) क्रम से डाले गये हैं जिस प्रकार कि वे उक्त बृहत्संहिता में पाये जाते हैं। बाकी के १८ पद्यों में से कुछ छूट गये और कुछ छोड़ दिये गये मालूम होते हैं। इस तरह पर ये ग्यारह के ग्यारह अध्याय भद्रबाहुसंहिता में नकल किये गये हैं और उनका एक अध्याय बनाया गया है। इतने अधिक श्लोकों की नकल में सिर्फ आठ दस पद्य ही ऐसे हैं जिनमें कुछ परिवर्तन पाया जाता है। बाकी सब पद्य ज्यों के त्यों नकल किए गए हैं। अस्तु! यहाँ पाठकों के संतोषार्थ और उन्हें इस नकल का अच्छा ज्ञान कराने के लिए कुछ परिवर्तित और अपरिवर्तित दोनों प्रकार के पद्य नमूने के तौर पर उद्धृत किये जाते हैं—

१. वानरभिक्षुश्रवणावलोकनं नैऋतात्तृतीयांशे।

फलकुसुमदन्तघटितागमश्च कोणाच्चतुर्थांशे॥२-८॥

इस पद्य में नैऋत कोण के सिर्फ तृतीय और चतुर्थ अंशों ही का कथन है। इससे पहले दो अंशों का कथन और होना चाहिए जो भद्रबाहुसंहिता में नहीं है। इसलिए यह कथन अधूरा है। बृहत्संहिता के ८७ वें अध्याय में इससे पहले के एक पद्य में वह कथन दिया है और इसलिए इस पद्य को नं० ९ पर रखा है। इससे स्पष्ट है कि वह पद्य यहाँ पर छूट गया है।

२. अवाक्प्रदाने विहितार्थसिद्धिः पूर्वोक्तदिक्चक्रफलौरथान्यत्।

वाच्यं फलं चोत्तममध्यनीचशाखास्थितायां वरमध्यनीचम्॥३-३९॥

बृहत्संहिता में, जिसमें इस पद्य का नं० ४६ है, इस पद्य से पहले सात पद्य और दिये हैं जो भद्रबाहुसंहिता में नहीं हैं और उनमें पिंगला जानवर से शकुन लेने का विधान किया है। लिखा है कि— 'संध्या के समय पिंगला के निवास-वृक्ष के पास जाकर ब्रह्मादिक देवताओं की और उस वृक्ष की नये वस्त्रों तथा सुगंधित द्रव्यों से पूजा करे। फिर अकेला अर्धरात्रि के समय उस वृक्ष के अग्निकोण में खड़ा होकर तथा पिंगला को अनेक प्रकार की शपथें (कसमें) देकर पद्य नं० ४२ ४३ ४४ में दिया हुआ मंत्र ऐसे स्वर से पढ़े जिसे पिंगला सुन सके और उसके साथ पिंगला से अपना मनोरथ पूछे। ऐसा कहने पर वृक्ष पर बैठी हुई वह पिंगला यदि कुछ शब्द करे तो उसके फल का विचार पद्य नं० ४५ में^{११} दिया है और उसके कुछ शब्द न करने आदि का विचार इस ऊपर उद्धृत किये हुए पद्य में

११. यथा— “इत्येवमुक्ते तरुमूर्ध्वगायाश्चिरिल्विरिल्वीतिरुतेऽर्थसिद्धिः।

अत्याकुलत्वं दिशिकारशब्दे कुचाकुचेत्येवमुदाहृते वा”॥४५॥

बतलाया है। इससे इस पद्य का साफ सम्बन्ध उक्त सात पद्यों से पाया जाता है। मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ता को इसका कुछ भी स्मरण नहीं रहा और उसने उक्त सात पद्यों को छोड़कर इस पद्य को यहाँ पर असम्बद्ध बना दिया है।

३. राजा कुमारो नेता च दूतः श्रेष्ठी चरो द्विजः।

गजाध्यक्षश्च पूर्वाद्याः क्षत्रियाद्याश्चतुर्दिशम्॥५-४॥

यह पद्य यहाँ 'शिवारुत' प्रकरण में बिल्कुल ही असम्बद्ध मालूम होता है। इसका यहाँ कुछ भी अर्थ नहीं हो सकता। एक बार इसका अवतरण इसी ३१वें अध्याय के शुरू में नं० २८ पर हो चुका है और बृहत्संहिता के ८६वें अध्याय में यह नं० ३४ पर दर्ज है। नहीं मालूम इसे फिर से यहाँ रखकर ग्रन्थकर्ता ने क्या लाभ निकाला है। अस्तु। इसके बदले में इस प्रकरण का 'शान्ता' इत्यादि पद्य नं० १३ ग्रन्थकर्ता से छूट गया है और इस तरह पर लेख बराबर हो गया अर्थात् प्रकरण के १४ पद्यों की संख्या ज्यों की त्यों बनी रही।

४. क्रूरः षष्ठे क्रूरदृष्टो विलग्नाद्यास्मिन्नाशौ तद्गृहांगे व्रणः स्यात्।

एवं प्रोक्तं यन्मया जन्मकाले चिह्नं रूपं तत्तदस्मिन्विचिन्त्यं॥११-१३॥

इस पद्य के उत्तरार्द्ध में लिखा है कि 'इसी प्रकार से जन्मकालीन चिह्नों और फलों का जो कुछ वर्णन मैंने किया है उन सबका यहाँ भी विचार करना चाहिए।' वराहमिहिर ने 'बृहज्जातक' नाम का भी एक ग्रन्थ बनाया है जिसमें जन्मकालीन चिह्नों और उनके फलों का वर्णन है। इससे उक्त कथन के द्वारा वराहमिहिर ने अपने उस ग्रन्थ का उल्लेख किया मालूम होता है। ग्रन्थकर्ता ने उसे बिना सोचे समझे यहाँ ज्यों का त्यों रख दिया है। भद्रबाहुसंहिता में इस प्रकार का कोई कथन नहीं, जिससे इसका सम्बन्ध लगाया जाये।

५. ओजाः प्रदक्षिणं शस्ता मृगः सनकुलाण्डजाः।

चाषः सनकुलो वामो भृगुराहापराहृतः॥१-३७॥

यह बृहत्संहिता (अ० ८६) का ४३वाँ पद्य है। इसमें 'भृगु' जी का नाम उनके वचन सहित दिया है। भद्रबाहुसंहिता में इसे ज्यों का त्यों रखा है। बदला नहीं है। संभव है कि यह पद्य परिवर्तन से छूट गया हो। अब आगे परिवर्तित पद्यों के दो नमूने दिखलाये जाते हैं—

६. श्रेष्ठो हयः सितः प्राच्यां शवमांसे च दक्षिणे।

कन्यका दधिनी पश्चादुदग्माधुजिनादयः॥१-४०॥

बृहत्संहिता में इस पद्य का पहला चरण 'श्रेष्ठे हयसिते प्राच्यां' और चौथा चरण 'दुदगो विप्रसाधवः' दिया है। बाकी दोनों चरण ज्यों के त्यों हैं। इससे भद्रबाहुसंहिता में इस पद्य के इन्हीं दो चरणों में तबदीली पाई जाती है। पहले चरण की तबदीली साधारण है और उससे कोई अर्थभेद नहीं हुआ। रही चौथे चरण की तबदीली, उसमें 'गोविप्र' (गोब्राह्मण) की जगह 'जिनादि' बनाया गया है और उससे यह सूचित किया है कि यात्रा के समय उत्तरदिशा में यदि साधु और जिनादिक हों तो

श्रेष्ठ फल होता है। परन्तु इस तबदीली से यह मालूम न हुआ कि इसे करके ग्रन्थकर्ता ने कौनसी बुद्धिमत्ता का कार्य किया है। क्या 'साधु' शब्द में 'जिन' का और 'जिनादि' शब्दों में 'साधु' का समावेश नहीं होता था? यदि होता था तो फिर साधु और जिनादि ये दो शब्द अलग अलग क्यों रखे गये? साथ ही, जिस गौ और ब्राह्मण के नाम को उड़ाया गया है उसको यदि कोई 'आदि' शब्द से ग्रहण कर ले तो उसका ग्रन्थकर्ता ने इस श्लोक में क्या प्रतीकार रखा है? उत्तर इन सब बातों का कुछ नहीं हो सकता। इसलिए ग्रन्थकर्ता का यह सब परिवर्तन निरा भूलभरा और मूर्खता का द्योतक है।

७. धीवरशाकुनिकानां सप्तमभागे भयं भवति दीप्ते।

भोजनविघात उक्तो निधनभयं च तत्परतः॥२-३३॥

इस पद्य में सिर्फ 'निर्ग्रन्थभयं' के स्थान में 'निर्धनभयं' बनाया गया है और इसका अभिप्राय शायद ऐसा मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ता को 'निर्ग्रन्थ' शब्द खटका है। उसने इसका अर्थ दिगम्बर मुनि या जैन साधु समझा है और जैन साधुओं से किसी को भय नहीं होता, इसलिए उसके स्थान में 'निर्धन' शब्द बनाया गया है। परन्तु वास्तव में निर्ग्रन्थ का अर्थ दिगम्बर मुनि या जैन साधु ही नहीं है बल्कि 'निर्धन' और 'मूर्ख' भी उसका अर्थ है^{१२} और यहाँ पर वह ऐसे ही अर्थ में व्यवहृत हुआ है। अस्तु ग्रन्थकर्ता का इस परिवर्तन से कुछ ही अभिप्राय हो, परन्तु छंद की दृष्टि से उसका यह परिवर्तन ठीक नहीं हुआ। ऐसा करने से इस आर्या छंद के चौथे चरण में दो मात्रायें कम हो गई हैं— १५ के स्थान में १३ ही मात्रायें रह गई हैं।

यहाँ पाठकों का यह जानकर आश्चर्य होगा कि वराहमिहिर आचार्य ने तो अपना यह सम्पूर्ण शकुनसम्बन्धी वर्णन अनेक वैदिक ऋषियों तथा विद्वानों के आधार पर अनेक ग्रन्थों का आशय लेकर लिखा है और उसकी सूचना उक्त वर्णन के शुरू में लगा दी है। परन्तु भद्रबाहुसंहिता के कर्ता इतने कृतज्ञ थे कि उन्होंने जिस विद्वान् के शब्दों की इतनी अधिक नकल कर डाली है उसका आभार तक नहीं माना। प्रत्युत अध्याय के शुरू में मंगलाचरण के बाद यह लिखकर कि “श्रेणिक के प्रश्नानुसार गौतम ने शुभ अशुभ शकुन का जो कुछ कथन किया है वह (यहाँ मेरे द्वारा) विशेष रूप से निरूपण किया गया है^{१३}” इस सम्पूर्ण कथन को जैन का ही नहीं बल्कि जैनियों के केवली का बना डाला है! पाठक सोचें और विचार करें, इसमें कितना अधिक धोखा दिया गया है।

(घ) भद्रबाहुसंहिता में शकुनाध्याय के बाद, 'पाक' नाम का ३२वाँ अध्याय है, जिसमें १७ पद्य हैं। यह पूरा अध्याय भी बृहत्संहिता से नकल किया गया है। बृहत्संहिता में इसका नं० ९७ है और पद्यों की संख्या वही १७ दी है। इन पद्यों में से ८ पद्यों की नकल भद्रबाहुसंहिता में ज्यों की त्यों पाई जाती है। बाकी के पद्य कुछ परिवर्तन के साथ उठाकर रखे गये हैं। परिवर्तन आम तौर पर शब्दों को प्रायः आगे पीछे कर देने या किसी-किसी शब्द के स्थान में उसका पर्यायवाचक शब्द रख देने

१२. यथा—'निर्ग्रन्थः क्षपणेऽधने बालिशोऽपि।' इति श्रीधरसेनः॥ 'निर्ग्रन्थो निस्वमूर्खयोः श्रमणे च।' इति हेमचन्द्रः॥

१३. श्रेणिकेन यथा पृष्ठं तथा गौतमभाषितम्। शुभाशुभं च शकुनं विशेषेण निरूपितम्॥२॥

मात्र से उत्पन्न किया गया है। उदाहरण के तौर पर आदि अंत के दो पद्य उन पद्यों के साथ नीचे प्रकाशित किये जाते हैं जिनसे वे कुछ परिवर्तन करके बनाये गये हैं—

पक्षाद्धानोः सोमस्य मासिकोऽङ्गारकस्य वक्रोक्तः।

आदर्शनाच्च पाको बुधस्य जीवस्य वर्षेण॥१॥ (-बृहत्संहिता।)

पाकः पक्षाद्धानोः सोमस्य च मासिकः कुजस्य वक्रोक्तः।

आदर्शनाच्च पाको बुधस्य सुगुरोश्च वर्षेण॥१॥ (-भद्रबाहु संहिता।)

ऊपर के इस पद्य का भद्रबाहुसंहिता में जो परिवर्तन किया गया है, उससे अर्थ में कोई भेद नहीं हुआ। हाँ इतना जरूर हुआ है कि आर्या छंद के दूसरे चरण में १८ मात्राओं के स्थान में २१ मात्रायें हो गई हैं और एक की जगह दो 'पाक' शब्दों का प्रयोग व्यर्थ हुआ है। यदि शुरू के 'पाकः' पद को किसी तरह निकाल भी दिया जाये तो भी छंद ठीक नहीं बैठता। उस वक्त दूसरे चरण में १७ मात्रायें रह जाती हैं। इसलिए ग्रन्थकर्ता ने यह परिवर्तन करके कोई बुद्धिमानी का काम नहीं किया।

२. **निगदितसमये न दृश्यते चेदधिकतरं द्विगुणे प्रप्रच्यते तत्।**

यदि न कनकरत्नगोप्रदानैरुपशमितं विधिवद्विजैश्च शान्त्या॥१७॥ -बृहत्संहिता

निगदितसमये न दृश्यते चेत् अधिक (तरं) द्विगुणे विपच्यते तत्।

यदि न जिनवचो गुरुपचर्या शमितं तन्महकैश्च लोकशान्त्यै॥१७॥ भद्र. सं०

इस पद्य को देखने से मालूम होता है कि भद्रबाहुसंहिता में इसके उत्तरार्द्ध का खास तौर से परिवर्तन किया गया है। परिवर्तन किस दृष्टि से किया गया और उसमें किस बात की विशेषता रखी गई है, इस बात को जानने के लिए सबसे पहले बृहत्संहिता के इस पद्य का आशय मालूम होना जरूरी है और वह इस प्रकार है—

“ग्रहों तथा उत्पातों आदि के फल पकने का जो समय ऊपर वर्णन किया गया है, उस समय पर यदि फल दिखाई न दे तो उससे दूने समय में वह अधिकता के साथ प्राप्त होता है। परन्तु शर्त यह है कि वह फल सुवर्ण, रत्न और गोदानादिक शांति से विधिपूर्वक ब्राह्मणों के द्वारा उपशमित न हुआ हो। अर्थात् यदि वह फल इस प्रकार से उपशांत न हुआ हो तब ही दूने समय में उसका अधिक पाक होगा, अन्यथा नहीं।” स्मरण रहे, भद्रबाहुसंहिता में इस पद्य का जो कुछ परिवर्तन किया गया है वह सिर्फ इस पद्य की उक्त शर्त का ही परिवर्तन है। इस शर्त के स्थान में जो शर्त रखी गई है वह इस प्रकार है—

“परन्तु शर्त यह है कि वह फल लोकशांति के लिए महत्पुरुषों द्वारा की हुई जिनवचन और गुरु की सेवा से शांत न हुआ हो।”

इस शर्त के द्वारा इस पद्य को जैन का लिबास पहनाकर उसे जैनी बनाया गया है। साथ ही, ग्रन्थकर्ता ने अपने इस कृत्य से यह सूचित किया है कि शांति सुवर्ण, रत्न, और गौ आदि के दान से नहीं होती बल्कि जिनवचन और गुरु की सेवा से होती है। परन्तु तीसरे खण्ड के 'ऋषिपुत्रिका' नामक

चौथे अध्याय में प्रतिमादिक के उत्पात की जिसके पाक का इस पाकाध्याय में भी वर्णन है, शांति का विधान करते हुए लिखा है कि—

१*जं किंचिवि उप्पादं अण्णं विग्घं च तत्थ णासेइ।

दक्खिणदेज्जसुवण्णं गावी भूमी उ विप्पदेवाणं॥११२॥

अर्थात्—जो कोई भी उत्पात या दूसरा कोई विघ्न हो उसमें ब्राह्मण देवताओं को दक्षिणा देना चाहिए— सोना, गौ और भूमि देना चाहिए। ऐसा करने से उत्पातादिक की शांति होती है।

इस गाथा को पढ़कर शायद कुछ पाठक यह कह उठें कि ‘यह कथन जैनधर्म के विरुद्ध है।’ परन्तु विरुद्ध हो या अविरुद्ध, यहाँ उसके दिखलाने का अभिप्राय या उस पर विचार करने का अवसर नहीं है अर्थात् विरुद्ध कथनों का अच्छा दिग्दर्शन पाठकों को अगले लेख में कराया जायेगा। यहाँ सिर्फ यह दिखलाने की गरज है कि ग्रन्थकर्ता ने एक जगह उक्त परिवर्तन के द्वारा यह सूचित किया है कि सोना तथा गौ आदिक के दान से ब्राह्मणों के द्वारा शांति^{१५} नहीं होती और दूसरी जगह खुले शब्दों में उसका विधान किया है। ऐसी हालत में समझ में नहीं आता कि ग्रन्थकर्ता के इस कृत्य को उन्मत्तचेष्टा के सिवाय और क्या कहा जाये। यहाँ पर यह भी प्रकट कर देना जरूरी है कि ग्रन्थकर्ता ने, अपने इस कृत्य से छंद में भी कुछ गड़बड़ी पैदा की है। बृहत्संहिता का उक्त पद्य ‘पुष्पिताग्रा’ नामक छन्द में^{१६} है। उसके लक्षणानुसार चतुर्थ पाद में भी गणों का विन्यास उसी प्रकार होना चाहिए था जिस प्रकार कि वह द्वितीय चरण में पाया जाता है। परन्तु भद्रबाहुसंहिता में ऐसा नहीं है। उसके चौथे चरण का गणविन्यास दूसरे चरण से बिल्कुल भिन्न हो गया है।

(ड) भद्रबाहुसंहिता में ‘वास्तु’ नाम का ३५वाँ अध्याय है, जिसमें लगभग ६० श्लोक वसुनन्दि के ‘प्रतिष्ठासारसंग्रह’ ग्रन्थ से उठाकर रखे गये हैं और जिनका पिछले लेख में उल्लेख किया जा चुका है। इन श्लोकों के बाद एक श्लोक में वास्तुशास्त्र के अनुसार कथन की प्रतिज्ञा देकर १३ पद्य इस बृहत्संहिता के ‘वास्तुविद्या’ नामक ५३वें अध्याय से भी उठाकर रखे हैं। जिनमें से शुरू के चार पद्यों को आर्या छंद से अनुष्टुप् में बदलकर रखा है और बाकी को प्रायः ज्यों का त्यों उसी छंद में रहने दिया है। इन पद्यों में से भी दो नमूने इस प्रकार हैं—

१. षष्ठिश्चतुर्विहीना वेश्मानि भवन्ति पंच सचिवस्य ।

स्वाष्टांशयुता दैर्घ्यं तदर्धतो राजमहिषीणाम्॥६॥ (—बृहत्संहिता।)

१४. इसकी संस्कृतछाया इस प्रकार है—

यत्किंचिदपि उत्पातं अन्यद्विघ्नं च तत्र नाशयति । दक्षिणा दद्यात् सुवर्णं गौः भूमिश्च विप्रदेवेभ्यः॥

१५. ब्राह्मणों के उत्कर्ष की बात को दो एक जगह और भी बदला है जिसका ऊपर उद्धृत किये हुए (ख) और (ग) भाग के पद्यों में उल्लेख आ चुका है।

१६. इस छंद के विषम (१-३) चरणों में क्रमशः नगण, नगण, रगण, यगण और सम (२-४) चरणों में नगण, जगण, जगण, रगण और एक गुरु होते हैं।

सचिवस्य पंच वेश्मानि चतुर्हीना तु षष्ठिकाः ।

स्वाष्टांशयुतदैर्घ्याणि महिषीणां तदर्धतः॥६८॥ -भद्रबाहुसंहिता ।

२. ऐशान्यां देवगृहं महानसं चापि कार्यमाग्नेय्याम् ।

नैर्ऋत्यां भाण्डोपस्करोऽर्थ धान्यानि मारुत्याम्॥७८॥

इन पद्यों में दूसरे नम्बर का पद्य ज्यों का त्यों नकल किया गया है और बृहत्संहिता में नं० ११८ पर दर्ज है । पहले पद्य में सिर्फ छंद का परिवर्तन है । शब्द प्रायः वही के वही पाये जाते हैं । इस परिवर्तन से पहले चरण में एक अक्षर बढ़ गया है—८ की जगह ९ अक्षर हो गये हैं । यदि ग्रन्थकर्ता जी किसी मामूली छंदोवित् से भी सलाह ले लेते तो वह कम से कम 'सचिवस्य' के स्थान में उन्हें 'मंत्रिणः' कर देना जरूर बतला देता, जिससे छंद का उक्त दोष सहज ही में दूर हो जाता । अस्तु ।

ऊपर के इस सम्पूर्ण परिचय से ज्यों के त्यों उठाकर रखे हुए, स्थानान्तर किये हुए, छूटे हुए, छोड़े हुए और परिवर्तित किये हुए पद्यों के नमूनों से साफ जाहिर है और इसमें कोई संदेह बाकी नहीं रहता कि यह सब कथन उक्त बृहत्संहिता से उठाकर ही नहीं बल्कि चुराकर रखा गया है । साथ ही इससे ग्रन्थकर्ता की सारी योग्यता और धार्मिकता का अच्छा पता मालूम हो जाता है ।

(३) पहले लेख में, भद्रबाहु और राजा श्रेणिक की (ग्रन्थकर्ता द्वारा गढ़ी हुई) असम्बद्ध मुलाकात को दिखलाते हुए, हिन्दुओं के 'बृहत्पाराशरी होरा' ग्रन्थ का उल्लेख किया जा चुका है । इस ग्रन्थ से लगभग दो सौ श्लोक उठाकर भद्रबाहुसंहिता के अध्याय नं० ४१ और ४२ में रखे गये हैं । संहिता में इन सब श्लोकों की नकल प्रायः ज्यों की त्यों पाई जाती है । सिर्फ दस पाँच श्लोक ही उनमें ऐसे नजर आते हैं जिनमें कुछ थोड़ा-सा परिवर्तन किया गया है । नमूने इस प्रकार हैं—

१. भौमजीवारुणाः पापाः एक एव कविः शुभः ।

शनैश्चरेण जीवस्य योगोमेषभवो यथा॥४१-१६॥

२. स्वत्रिंशांशेऽथवा मित्रे त्रिंशांशे वा स्थितो यदि ।

तस्य भुक्तिः शुभा प्रोक्ता भद्रबाहुमहर्षिभिः॥४२-१८॥

३. एवं देहादिभावानां षड्वर्गगतिभिः फलम् ।

सम्यग्विचार्य मतिमान्प्रवदेत् मागधाधिपः॥४२-द्वि.१७॥

इनमें से पहला श्लोक ज्यों का त्यों है और वह उक्त पाराशरी होरा के पूर्व खण्ड सम्बन्धी १३वें अध्याय में नं० १९ पर दर्ज है । दूसरे श्लोक^१ में 'कालविद्धिर्मनीषिभिः' के स्थान में 'भद्रबाहुमहर्षिभिः' और तीसरे^२ श्लोक में 'कालवित्तमः' की जगह 'मागधाधिपः' बनाया गया है । दूसरे श्लोक में भद्रबाहु के नाम का जो परिवर्तन है उस प्रकार का परिवर्तन इस अध्याय के और भी अनेक श्लोकों में पाया

१. यह श्लोक बृहत्पाराशरी होरा के ३७ वें अध्याय में नं० ३ पर दर्ज है ।

२. यह श्लोक बृ. पाराशरी होरा के ४६वें अध्याय का ११ वाँ पद्य है ।

जाता है और इस परिवर्तन के द्वारा ग्रन्थकर्ता ने हिन्दुओं के इस होरा कथन को भद्रबाहु का बनाने की चेष्टा की है। रहा तीसरे श्लोक का परिवर्तन, वह बड़ा ही विलक्षण है। इसके मूल में लिखा था कि “इस प्रकार बुद्धिमान् ज्योतिषी (कालवित्तमः) भले प्रकार विचार करके फल कहे।” परन्तु संहिता के कर्ता ने, अपने इस परिवर्तन से, फल कहने का वह काम मागधों के राजा के सुपुर्द कर दिया है! और इसलिए उसका यह परिवर्तन यहाँ बिल्कुल असंगत मालूम होता है। यदि विसर्ग को हटाकर यहाँ ‘मागधाधिपः’ के स्थान में ‘मागधाधिप’ ऐसा संबोधनपद भी मान लिया जाये तो भी असम्बद्धता दूर नहीं होती। क्योंकि ग्रन्थ में इससे पहले उक्त राजा का कोई ऐसा प्रकरण या प्रसंग नहीं है जिससे इस पद का सम्बन्ध हो सके।

(४) हिन्दुओं के यहाँ ‘लघुपाराशरी’ नाम का भी एक ग्रन्थ है और इस ग्रन्थ से भी बहुत से श्लोक कुछ परिवर्तन के साथ उठाकर भद्रबाहुसंहिता के अध्याय नं० ४१ में रखे हुए मालूम होते हैं, जिनमें से एक श्लोक उदाहरण के तौर पर इस प्रकार है—

योगो दशास्वपि भवेत्प्रायस्सुयोगकारिणोः।

दशायुग्मे मध्यगतस्तदयुक् शुभकारिणाम्॥४१॥

लघुपाराशरी में यह श्लोक इस प्रकार दिया है—

दशास्वपि भवेद्योगः प्रायशो योगकारिणोः।

दशाद्वयी मध्यगतस्तदयुक् शुभकारिणाम्॥१८॥

पाठक दोनों पद्यों पर दृष्टि डालकर देखें, कितना सुगम परिवर्तन है। दो एक शब्दों को आगे पीछे कर देने तथा किसी किसी शब्द का पर्यायवाचक शब्द रख देने मात्र से परिवर्तन हो गया है। लघुपाराशरी के दूसरे पद्यों का भी प्रायः यही हाल है। संहिता में उनका भी इसी प्रकार का परिवर्तन पाया जाता है।

(५) भद्रबाहुसंहिता के दूसरे खण्ड में ‘लक्षण’ नाम का एक अध्याय नं० ३७ है, जिसमें प्रधानतः^{१७} स्त्री पुरुषों के अंगों उपांगों आदि के लक्षणों को दिखलाते हुए उनके शुभाशुभ फल का वर्णन किया है। इस अध्याय का पहला पद्य इस प्रकार है—

जिनदेवं प्रणम्यादौ सर्वज्ञं विबुधार्चितम्।

लक्षणानि च वक्ष्येऽहं भद्रबाहुर्यथागमं॥१॥

इस पद्य में, मंगलाचरण के बाद, लिखा है कि ‘मैं भद्रबाहु आगम के अनुसार लक्षणों का कथन करता हूँ।’ इस प्रतिज्ञा वाक्य से एकदम ऐसा मालूम होता है कि मानो भद्रबाहु स्वयं इस अध्याय का प्रणयन कर रहे हैं और ये सब शब्द उन्हीं की कलम से अथवा उन्हीं के मुख से निकले हुए हैं, परन्तु नीचे के इन दो पद्यों के पढ़ने से, जो उक्त पद्य के अनन्तर दिये हैं, कुछ और ही मालूम होने लगता है। यथा—

१७. अंत के २० पद्यों में कुछ थोड़े से हाथी घोड़ों के भी लक्षण दिये हैं।

पूर्वमायुः परीक्षेत पश्चाल्लक्षणमेव च।
 आयुर्हीननृनारीणां लक्षणैः किं प्रयोजनम्॥२॥
 नारीणां वामभागे तु पुरुषस्य च दक्षिणे।
 यथोक्तं लक्षणं तेषां भद्रबाहुवचो यथा॥३॥

पद्य नं० ३ में 'भद्रबाहुवचो यथा' ये शब्द आये हैं, जिनका अर्थ होता है 'भद्रबाहु के वचनानुसार अथवा जैसा कि भद्रबाहु ने कहा है।' अर्थात् ये सब वचन खास भद्रबाहु के शब्द नहीं हैं उन्होंने इस आशय का प्रणयन नहीं किया बल्कि उनके वचनानुसार (यदि यह सत्य हो) किसी दूसरे ही व्यक्ति ने इसकी रचना की है। आगे भी इस अध्याय के श्लोक नं० ३२, १३१ और १९५ में यही 'भद्रबाहुवचो यथा', शब्द पाये जाते हैं, जिनसे इस पिछले कथन की और भी अधिक पुष्टि होती है। इसके सिवाय एक स्थान पर, श्लोक नं० १३६ में, ग्राह्यकन्या कैसी होती है, इत्यादि प्रश्न देकर अगले श्लोक नं० १३७ में 'भद्रबाहुरुवाचेति' इस पर भद्रबाहु बोले, इन शब्दों के साथ उसका उत्तर दिया गया है। प्रश्नोत्तर रूप के ये दोनों श्लोक पहले लेख में उद्धृत किये जा चुके हैं। इनसे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि यह सब कथन भले ही भद्रबाहु के वचनानुसार लिखा गया हो, परन्तु वह खास भद्रबाहु का वचन नहीं है और न उन लोगों का वचन है, जिनके प्रश्न पर भद्रबाहु उत्तर रूप से बोले थे। क्योंकि यहाँ 'उवाच' ऐसी परोक्षभूत की क्रिया का प्रयोग पाया जाता है। ऐसी हालत में कहना पड़ता है कि यह सब रचना किसी तीसरे ही व्यक्ति की है। परन्तु ऐसा होने पर पहले श्लोक में दिये हुए उक्त प्रतिज्ञा वाक्य से विरोध आता है और इसलिए सारे कथन पर जालीपने का संदेह हो जाता है। तीसरे नम्बर के पद्य को फिर से जरा गौर के साथ पढ़ने पर मालूम होता है कि उसमें 'भद्रबाहुवचो यथा' के होते हुए 'यथोक्तं' पद व्यर्थ पड़ा है, उसका "तेषां" शब्द खटकता है और चूँकि 'यथोक्तं' पद 'लक्षणं' पद का विशेषण है, इसलिए इस पद्य में कोई क्रियापद नहीं है और न पिछले तथा अगले दोनों पद्यों की क्रियाओं से उसका कोई सम्बन्ध पाया जाता है। ऐसी हालत में, इस पद्य का अर्थ होता है—“स्त्रियों के वाम भाग में और पुरुष के दक्षिण भाग में उनका यथोक्त लक्षण भद्रबाहु के वचनानुसार।” इस अर्थ से यह पद्य यहाँ बिल्कुल असम्बद्ध मालूम होता है और किसी दूसरे पद्य पर से परिवर्तित करके बनाये जाने का ख्याल उत्पन्न करता है। शब्दकल्पद्रुम कोश में 'सामुद्रक' शब्द के नीचे कुछ श्लोक किसी सामुद्रकशास्त्र से उद्धृत करके रखे गये हैं जिनमें के दो श्लोक इस प्रकार हैं—

वामभागे तु नारीणां दक्षिणे पुरुषस्य च।
 निर्दिष्टं लक्षणं तेषां समुद्रेण यथोदितम्॥
 पूर्वमायुः परीक्षेत पश्चाल्लक्षणमेव च।
 आयुर्हीनं नराणां चेत् लक्षणैः किं प्रयोजनम्॥

इन श्लोकों में पहला श्लोक उक्त तीसरे पद्य से बहुत कुछ मिलता जुलता है। मालूम होता है

कि संहिता का उक्त पद्य इसी श्लोक पर से या इसके सदृश किसी दूसरे श्लोक पर से परिवर्तित किया गया है और इस परिवर्तन के कारण ही वह कुछ दूषित और असम्बन्धित बन गया है। अन्यथा, इस श्लोक में उक्त प्रकार का कोई दोष नहीं है। इसका 'तेषां' पद भी इससे पहले श्लोक के^{१८} उत्तरार्द्ध में आये हुए 'मनुष्याणां' पद से सम्बन्ध रखता है। रहा दूसरा श्लोक, उसे देखने से मालूम होता है कि वह और संहिता का ऊपर उद्धृत किया हुआ पद्य नं० २ दोनों एक हैं। सिर्फ तीसरे चरण में कुछ नाम मात्र का परिवर्तन है जिससे कोई अर्थभेद नहीं होता। बहुत संभव है कि संहिता का उक्त पद्य भी इस दूसरे श्लोक पर से परिवर्तित किया गया हो। परन्तु इसे छोड़कर यहाँ एक बात और नोट की जाती है और वह यह है कि इस अध्याय में एक स्थान पर, 'नारदस्य वचो यथा' यह पद देकर नारद के वचनानुसार भी कथन करने को सूचित किया है। यथा—

ललाटे यस्य जायेत रेखात्रयसमागमः।

षष्ठिवर्षायुरुद्दिष्टं नारदस्य वचो यथा॥१३०॥

इससे मालूम होता है कि इस अध्याय का कुछ कथन किसी ऐसे ग्रन्थ से भी उठाकर रख गया है जो हिन्दुओं के नारद मुनि या नारदाचार्य से सम्बन्ध रखता है। 'नारदस्य वचो यथा' और 'भद्रबाहुवचो यथा' ये दोनों पद एक ही वजन के हैं। आश्चर्य नहीं कि इस अध्याय में जहाँ 'भद्रबाहुवचो यथा' इस पद का प्रयोग पाया जाता है वह 'नारदस्य वचो यथा' इस पद को बदलकर ही बनाया गया हो और ऊपर के पद्य में 'नारदस्य' के स्थान में 'भद्रबाहु' का परिवर्तन करना रह गया हो। परन्तु कुछ भी हो ऊपर के इस सम्पूर्ण कथन से इस विषय में कोई संदेह नहीं रहता कि इस अध्याय का यह सब कथन, जो २२० पद्यों में है, एक या अनेक सामुद्रिकशास्त्रों, लक्षणग्रन्थों अथवा तद्विषयक अध्यायों से उठाकर रखा गया है और कदापि भद्रबाहु श्रुतकेवली का वचन नहीं है।

(६) भद्रबाहुसंहिता के पहले खण्ड में दस अध्याय हैं, जिनके नाम हैं— १ चतुर्वर्णनित्यक्रिया, २ क्षत्रियनित्यकर्म, ३ क्षत्रियधर्म, ४ कृतिसंग्रह, ५ सीमानिर्णय, ६ दंडपारुष्य, ७ स्तैन्यकर्म, ८ स्त्रीसंग्रहण, ९ दायभाग और १० प्रायश्चित्त। इन सब अध्यायों की अधिकांश रचना प्रायः मनु आदि स्मृतियों के आधार पर हुई है, जिनके सैकड़ों पद्य या तो ज्यों के त्यों और या कुछ परिवर्तन के साथ जगह जगह पर इन अध्यायों में पाये जाते हैं। मनु के १८ व्यवहारों अर्थात् विवादपदों का भी अध्याय नं० ३ से ९ तक कथन किया गया है। परन्तु यह सब कथन पूरा और सिलसिलेवार नहीं है। इसके बीच में कृतिसंग्रह नाम का चौथा अध्याय अपनी कुछ निराली ही छटा दिखला रहा है। उसका मजमून ही दूसरा है और उसमें कई विवादों के कथन का दर्शन तक भी नहीं कराया गया। इन अध्यायों पर यदि विस्तार के साथ विचार किया जाये तो एक खासा अलग लेख बन जाये, परन्तु यहाँ इसकी जरूरत न समझकर सिर्फ उदाहरण के तौर पर कुछ पद्यों के नमूने दिखलाये जाते हैं—

१८. वह उत्तरार्द्ध इस प्रकार है— “लक्षणं तु मनुष्याणां एकैकेन वदाम्यहम्”

क—ज्यों के त्यों पद्य

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दंडनीतिं च शाश्वतीम्।

आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारंभाश्च लोकतः॥२-१३४॥

तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम्।

स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च॥ -१४५॥

ये दोनों पद्य मनुस्मृति के सातवें अध्याय के हैं जहाँ वे क्रमशः नं० ४३ और ५६ पर दर्ज हैं।

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने।

समानशयने चैव न शयीत तथा सह॥४-४२॥

यह पद्य मनुस्मृति के चौथे अध्याय का ४०वाँ पद्य है।

कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याद् द्विशतो दमः।

शुल्कं च द्विगुणं दद्याच्छिफाश्चैवाप्नुयाद्दश॥८-१४॥

यह पद्य मनुस्मृति के आठवें अध्याय में नं० ३६९ पर दर्ज है।

ख—परिवर्तित पद्य

मनुस्मृति के सातवें अध्याय में, राजधर्म का वर्णन करते हुए, राजा के काम से उत्पन्न होने वाले दस व्यसनों के जो नाम दिये हैं, वे इस प्रकार हैं—

मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियोमदः।

तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः॥४७॥

भद्रबाहुसंहिता में इस पद्य के स्थान में निम्नलिखित डेढ़ पद्य दिया है—

परिवादो दिवास्वप्नः मृगयाक्षो वृथाटनम्।

तौर्यत्रिकं स्त्रियो मद्यमसत्यं स्तैन्यमेव च॥२-१३८॥

इमे दशगुणाः प्रोक्ताः कामजाः बुधनिन्दिताः।

दोनों पद्यों के मिलान से जाहिर है कि भद्रबाहुसंहिता का यह डेढ़ पद्य मनुस्मृति के उक्त पद्य नं० ४७ पर से, उसके शब्दों को आगे पीछे करके बनाया गया है। सिर्फ 'असत्य' और 'स्तैन्य' ये दो व्यसन इसमें ज्यादा बढ़ाये गये हैं, जिनकी वजह से कामज व्यसनो या गुणों की संख्या दस के स्थान में बारह हो गई है। परन्तु वैसे भद्रबाहुसंहिता में भी यह संख्या दस ही लिखी है, जिससे विरोध आता है। संभव है कि ग्रन्थकर्ता ने 'तौर्यत्रिक' को एक गुण या एक चीज समझा हो। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। गाना, बजाना और नाचना ये तीनों चीजें अलग अलग हैं और अलग अलग गुण कहे जाते हैं, जैसा कि उक्त पद में लगे हुए 'त्रिक' शब्द से भी जाहिर है।

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।

शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति॥४-१७२॥ (-मनुस्मृतिः)

नाधर्मस्त्वरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।

शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥४-८५॥ -भद्रबाहुसंहिता।

ये दोनों पद्य प्रायः एक हैं। भद्रबाहुसंहिता के पद्य में जो कुछ थोड़ा सा परिवर्तन है वह समीचीन मालूम नहीं होता। उसका 'मिश्रं' पद बहुत खटकता है और वह यहाँ पर कुछ भी अर्थ नहीं रखता। यदि उसे किसी तरह पर 'सद्यः' का पर्यायवाचक शब्द 'शीघ्र' मान लिया जाये तो ऐसी हालत में 'स्त्वरितो' के स्थान में 'श्चरितो' भी मानना पड़ेगा और तब पद्य भर में सिर्फ एक शब्द का ही अनावश्यक परिवर्तन रह जायेगा।

आत्मा वै जायते पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।

तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥९-२६॥

दायभाग प्रकरण का यह पद्य वही है जो मनुस्मृति के ९वें अध्याय में नं० १३० पर दर्ज है। सिर्फ उसके 'यथैवात्मा तथा पुत्रः' के स्थान में 'आत्मा वै जायते पुत्रः' यह वाक्य बनाया गया है। इस परिवर्तन से 'पुत्र अपने ही समान हकदार है' की जगह "आत्मा निश्चय से पुत्ररूप होकर उत्पन्न होता है" यह अर्थ हो गया है।

कृत्वा यज्ञोपवीतं तु पृष्ठतः कंठलम्बितम्।

विष्णुमूत्रे तु गृही कुर्याद्भ्रामकर्णे व्रतान्वितः॥१-१८॥

यह पद्य वही है जिसे विट्ठल नारायण कृत 'आह्निक' में 'अंगिराः' ऋषि का वचन लिखा है। सिर्फ 'समाहितः' के स्थान में यहाँ पर 'व्रतान्वितः' का परिवर्तन किया गया है।

मनुस्मृति के आठवें अध्याय में, लोक व्यवहार के लिए कुछ संज्ञाओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि झरोखे के भीतर सूर्य की किरणों के प्रविष्ट होने पर जो सूक्ष्म रजः कण दिखलाई देते हैं उसको त्रसरेणु कहते हैं। आठ त्रसरेणुओं की एक लीख, तीन लीखों का एक राजसर्षप, तीन राजसर्षपों का एक गौरसर्षप और छह गौरसर्षपों का एक मध्यम यव (जौ) होता है। यथा—

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।

प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते॥१३२॥

त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः।

ता राजसर्षपस्तिस्त्रस्ते त्रयो गौरसर्षपाः॥१३३॥

सर्षपाः षट् यवो मध्यः।

भद्रबाहुसंहिता के कर्ता ने मनुस्मृति के इस कथन में त्रसरेणु से परमाणु का अभिप्राय समझकर तथा राजसर्षप और गौरसर्षप के भेदों को उड़ाकर जो कथन किया है वह इस प्रकार है—

१९यस्य भागो पुनर्नस्यात्परमाणुः स उच्यते।

तेऽष्टौ लिक्षा त्रयस्तच्च सर्षपस्ते यवो हि षट्॥३-२५२॥

अर्थात् जिसका विभाग न हो सके उसको परमाणु कहते हैं। आठ परमाणुओं की एक लीख, तीन लीखों का एक सर्षप (सरसों का दाना) और छह सर्षपों का एक जौ होता है। संहिता का यह सब कथन जैन दृष्टि से बिल्कुल गिरा हुआ ही नहीं बल्कि नितान्त असत्य मालूम होता है। इस कथन के अनुसार एक जौ, असंख्यात अथवा अनंत परमाणुओं की जगह, सिर्फ १४४ परमाणुओं का पुंज ठहरता है, जबकि मनुस्मृति का कर्ता उसे ४३२ त्रसरेणुओं के बराबर बतलाता है। एक त्रसरेणु में बहुत से परमाणुओं का समूह होता है। परमाणु को जैन शास्त्रों में इंद्रियगोचर नहीं माना, ऐसी हालत होते हुए लौकिक व्यवहार में परमाणु के पैमाने का प्रयोग भी समुचित प्रतीत नहीं होता। इन सब बातों से मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ता ने संज्ञाओं का यह कथन मनुस्मृति या उसके सदृश किसी दूसरे ग्रन्थ से लिया तो जरूर है, परन्तु वह उसके आशय को ठीक तौर से समझा नहीं सका और उसने परमाणु का लक्षण साथ में लगाकर जो इस कथन को जैन की रंगत देनी चाही है उससे यह कथन उल्टा जैन के विरुद्ध हो गया है और इससे ग्रन्थकर्ता की साफ मूर्खता टपकती है। सत्य है 'मूर्खों का प्रसाद भी भयंकर होता है।'

(७) इस संहिता में अनेक कथन ऐसे पाये जाते हैं जिन्हें ग्रन्थकर्ता ने बिना किसी नूतन आवश्यकता के एक से अधिक बार वर्णन किया है और जिनके इस वर्णन से न सिर्फ ग्रन्थकर्ता की मूढ़ता अथवा हिमाकत ही जाहिर होती है बल्कि साथ ही यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि यह पूरा ग्रन्थ किसी एक व्यक्ति की स्वतंत्र रचना न होकर प्रायः भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के प्रकरणों का एक बेढंगा संग्रह मात्र है। ऐसे कथनों के कुछ नमूने इस प्रकार हैं—

(क) पहले खण्ड के 'प्रायश्चित्त' नामक १०वें अध्याय में, एक स्थान पर, ये तीन पद्य दिये हैं—

पण दस बारस णियमा पण्णारस होइ तहय दिवसेहिं।

खत्तिय बंभाविस्सा सुद्धाय कमेण सुज्झंति॥३७॥

क्षत्रियासूतकं पंच विप्राणां दश उच्यते।

वैश्यानां द्वादशाहेन मासार्धेष्वितरे जने॥३८॥

यतिः क्षणेन शुद्धः स्यात्पंच रात्रेण पार्थिवः।

ब्राह्मणो दशरात्रेण मासार्धेनेतरो जनः॥३९॥

इन तीनों पद्यों में से कोई भी पद्य 'उक्तं च' आदि रूप से किसी दूसरे व्यक्ति का प्रकट नहीं किया

१९. इससे पहले श्लोक में त्रसरेण्वादि के भेद से ही मानसंज्ञाओं के कथन की प्रतिज्ञा की गई है जिससे मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ता ने त्रसरेणु को परमाणु समझा है।

यथा—संसारव्यवहारार्थं मानसंज्ञा प्रकथ्यते। हेमरत्नादिवस्तूनां त्रसरेण्वादिभेदतः॥२५१॥

गया और न दूसरा पद्य पहले प्राकृत पद्य की छाया है। तो भी पहले पद्य में जिस बात का वर्णन दिया है वही वर्णन दूसरे पद्य में भी किया गया है। दोनों पद्यों में क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रों की सूतकशुद्धि की मर्यादा क्रमशः पाँच, दस, बारह और पंद्रह दिन की बतलाई है। रहा तीसरा पद्य, उसमें क्षत्रियों और ब्राह्मणों की शुद्धि का तो कथन वही है जो ऊपर के दोनों पद्यों में दिया है और इसलिए यह कथन तीसरी बार आ गया है, बाकी रही वैश्यों और शूद्रों की शुद्धि की मर्यादा, वह इसमें १५ दिन की बतलाई है, जिससे वैश्यों की शुद्धि का कथन पहले दोनों पद्यों के कथन से विरुद्ध पड़ता है। क्योंकि उनमें १२ दिन की मर्यादा लिखी है। इसके सिवाय ग्रन्थ में इन तीनों पद्यों का ग्रन्थ के पहले पिछले पद्यों के साथ कुछ सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता और ये तीनों ही पद्य यहाँ 'उठाऊ चूल्हा' जैसे मालूम पड़ते हैं।

(ख) दूसरे खण्ड में 'तिथि' नाम का २८वाँ अध्याय है, जिसमें कुल तेरह पद्य हैं। इनमें से छह पद्य नं० ४, ५, ७, ८, ९, १० बिल्कुल वे ही हैं जो इससे पहले 'मुहूर्त' नाम के २७वें अध्याय में क्रमशः नं० ९, १०, १७, १८, १९, २० पर दर्ज हैं। यहाँ पर उन्हें व्यर्थ ही दुबारा रखा गया है।

(ग) दूसरे खण्ड में 'विरोध' नाम का एक ४३वाँ अध्याय भी है जिसमें कुल ६३ श्लोक हैं। इन श्लोकों में शुरू के साढ़े तेईस श्लोक नं० २ से नं० २५ के पूर्वाद्ध तक बिल्कुल ज्यों के त्यों वे ही हैं जो पहले इसी खण्ड के 'ग्रहयुद्ध' नाम के २४वें अध्याय के^{२०} शुरू में आ चुके हैं और उन्हीं नम्बरों पर दर्ज हैं। समझ में नहीं आता कि जब दोनों अध्यायों का विषय भिन्न-भिन्न था तो फिर क्यों एक अध्याय के इतने अधिक श्लोकों को दूसरे अध्याय में फिजूल नकल किया गया। संभव है कि इन दोनों विषयों में ग्रन्थकर्ता को परस्पर कोई भेद ही मालूम न हुआ हो। उसे इस 'विरोध' नाम के अध्याय को रखने की जरूरत इस वजह से पड़ी हो कि उसके नाम की सूचना उस विषय सूची में की गई है जो इस खण्ड के पहले अध्याय में लगी हुई है और जो पहला अध्याय अगले २३-२४ अध्यायों के साथ किसी दूसरे व्यक्ति का बनाया हुआ है, जैसा कि पहले लेख में सूचित किया जा चुका है और इसलिए ग्रन्थकर्ता ने इस अध्याय में कुछ श्लोकों को 'ग्रहयुद्ध' प्रकरण से और बाकी को एक या अनेक ताजिक ग्रन्थों से उठाकर रख दिया हो और इस तरह पर इस अध्याय की पूर्ति की हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि ग्रन्थकर्ता ने अपने इस कृत्य द्वारा सर्व साधारण पर अपनी खासी मूर्खता और हिमाकत का इजहार किया है।

(घ) इस ग्रन्थ में 'स्वप्न' नाम का एक अध्याय नं० २६ है, जिसमें केवल स्वप्न का ही वर्णन है और दूसरा 'निमित्त' नाम का ३०वाँ अध्याय है, जिसमें स्वप्न का भी वर्णन दिया है। इन दोनों अध्यायों में स्वप्न विषयक जो कुछ कथन किया गया है उसमें से बहुत-सा कथन एक दूसरे से मिलता जुलता है और एक के होते दूसरा बिल्कुल व्यर्थ और फिजूल मालूम होता है। नमूने के तौर पर यहाँ दोनों अध्यायों से सिर्फ दो-दो श्लोक उद्धृत किये जाते हैं—

२०. इस २४ वें अध्याय में कुल ४३ श्लोक हैं।

१. मधुरेर्चिर्विशेत्स्वप्ने दिवा वा यस्य वेश्मनि।
तस्यार्थनाशं नियतं मृतोवाप्यभिनिर्दिशेत्॥४५॥ -अध्याय २६।
मधुच्छत्रं विशेत्स्वप्ने दिवा वा यस्य वेश्मनि।
अर्थनाशो भवेत्तस्य मरणं वा विनिर्दिशेत्॥१३३॥ -अध्याय ३०।
२. मूत्रं वा कुरुते स्वप्ने पुरीषं वा सलोहितम्।
प्रतिबुध्येत्तथा यश्च लभते सोऽर्थनाशनम्॥५२॥ -अध्याय २६।
पुरीषं लोहितं स्वप्ने मूत्रं वा कुरुते तथा।

तदा जागर्ति यो मर्त्यो द्रव्यं तस्य विनश्यति॥१२१॥ -अध्याय ३०।

इनसे साफ जाहिर है कि ग्रन्थकर्ता ने इन दोनों अध्यायों का स्वप्नविषयक कथन भिन्न-भिन्न स्थानों से उठाकर रखा है और उसमें इतनी योग्यता नहीं थी कि वह उस कथन को छाँटकर अलग कर देता जो एक बार पहले आ चुका है। इसी तरह पर इस ग्रन्थ में 'उत्पात' नाम का एक अध्याय नं० १४ है, जिसमें केवल उत्पात का ही वर्णन है और दूसरा 'ऋषिपुत्रिका' नाम का चौथा अध्याय, तीसरे खण्ड में है जिसमें उत्पात का प्रधान प्रकरण है। इन दोनों अध्यायों का बहुत-सा उत्पात विषयक कथन भी एक दूसरे से मिलता जुलता है। इनके भी दो दो नमूने इस प्रकार हैं—

नर्तनं जलनं हास्यं उल्कालापौ निमीलनं।
देवा यत्र प्रकुर्वन्ति तत्र विद्यान्महद्भयम्॥१४-१०२॥
२१देवा णच्छन्ति जहिं पसिज्जन्ति तहय रोवन्ती।
जइ धूमन्ति चलन्ति य हसन्ति वा विविहरूवेहिं॥
लोयस्स दिन्ति मारिं दुब्भिक्खं तहय रोय पीडं वा॥४-७८२॥
आरणया ग्राममायान्ति वनं गच्छन्ति नागराः।
उदन्ति चाथ जल्पन्ति तदारण्याय कल्पते॥१४-६॥
२२आरण्यमिग पक्खी गामे णयरम्मि दीसदे जत्थ।
होहदि णायरविणासो परचक्कादो ण संदेहो॥४-५६॥

इससे स्पष्ट मालूम होता है कि इन अध्यायों का यह उत्पात-विषयक कथन भी भिन्न-भिन्न

२१. संस्कृतछाया-देवा नृत्यन्ति यदि प्रस्वेद्यन्ति तथा च रुदन्ति।

यदि घूमन्ति चलन्ति च हसन्ति वा विविधरूपैः॥

लोकस्य ददति मारिं दुर्भिक्षं तथा रोगपीडां वा॥७८॥

२२. संस्कृतछाया- आरण्यकमृगपक्षी ग्रामे नगरे च दृश्यते यत्र।

भविष्यति नगरविनाशः परचक्रात् न संदेहः॥५६॥

स्थानों से उठाकर रखा गया है और चूँकि इन दोनों अध्यायों में बहुत सा कथन एक दूसरे के विरुद्ध भी पाया जाता है, जिसका दिग्दर्शन अगले लेख में कराया जायेगा, इसलिए ये दोनों अध्याय किसी एक व्यक्ति के बनाये हुए भी नहीं हैं। ग्रन्थकर्ता ने उन्हें जहाँ-तहाँ से उठाकर बिना सोचे समझे यहाँ जोड़ दिया है।

(८) यद्यपि इससे पहले लेख में और इस लेख में भी ऊपर, प्रसंगानुसार, असम्बद्ध कथनों का बहुत कुछ उल्लेख किया जा चुका है तो भी यहाँ पर कुछ थोड़े से असम्बद्ध कथनों को और दिखलाया जाता है, जिससे पाठकों पर ग्रन्थ का बेढंगापन और भी अधिकता के साथ स्पष्ट हो जाये—

(क) गणेशादिमुनीन् सर्वान् नमति शिरसा सदा।

निर्वाणक्षेत्रपूजादीन् भुञ्जन्तीन्द्राश्च भो नृप॥३६-५१॥

त्रसरेणवादिकं चान्यत्तिलकालकसंभवं।

इत्येवं व्यंजनानां च लक्षणं तत्त्वतो नृप॥३८-१९॥

मनुष्येषु भवेच्चिह्नं छत्रतोरणचामरं।

सिंहासनादिमत्स्यान्तं राज्यचिह्नं भवेन्नृप॥३९-६॥

विदिग्गतश्चोर्ध्वगतोऽधोगतो दीप एव च।

कदाचिद्भवति प्रायो ज्ञेयो राजन् शुभोऽशुभः॥३-८-१८॥

ये चारों पद्य क्रमशः १ दिव्येन्द्रसंपदा, २ व्यंजन, ३ चिह्न और ४ दीप नाम के चार अलग-अलग अध्यायों के पद्य हैं। इनमें 'नृप' और 'राजन्' शब्दों द्वारा किसी राजा को संबोधन करके कथन किया गया है, परन्तु पहले यह बतलाया जा चुका है कि इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में कहीं भी किसी राजा का कोई प्रकरण या प्रसंग नहीं है और न किसी राजा के प्रश्न पर इस ग्रन्थ की रचना की गई है, जिसको संबोधन करके ये सब वाक्य कहे जाते। इसलिए ये चारों पद्य इस ग्रन्थ में बिल्कुल असम्बद्ध तथा अनमेल मालूम होते हैं और साथ ही इस बात को सूचित करते हैं कि ग्रन्थकर्ता ने इन चारों पद्यों ही को नहीं, बल्कि संभवतः उक्त चारों अध्यायों को किसी ऐसे दूसरे ग्रन्थ या ग्रन्थों से उठाकर यहाँ रखा है, जहाँ उक्त ग्रन्थ या ग्रन्थों के कर्ताओं ने उन्हें अपने-अपने प्रकरणानुसार दिया होगा। मालूम होता है कि संहिता के कर्ता के ध्यान में ही ये संबोधन पद नहीं आये। अथवा यों कहना चाहिए कि उसमें इनके सम्बन्ध विशेष को समझने की योग्यता ही नहीं थी। इसलिए उसने उन्हें ज्यों का त्यों नकल कर दिया है।

(ख) इस ग्रन्थ के तीसरे खण्ड में 'नवग्रहस्तुति' नाम का सबसे पहला अध्याय है। अंतिम वक्तव्य में भी इस अध्याय का नाम 'ग्रहस्तुति' ही लिखा है, परन्तु इस सारे अध्याय का पाठ कर जाने पर, जिसमें कुल १५ पद्य हैं, ग्रहों की स्तुति का इसमें कहीं भी कुछ पता नहीं है। इसका पहला पद्य मंगलाचरण और प्रतिज्ञा का है, जिसमें 'ग्रहशान्तिं प्रवक्ष्यामि' इस वाक्य के द्वारा ग्रहों की स्तुति नहीं,

बल्कि शान्ति के कथन की प्रतिज्ञा की गई है।^{१३} दूसरे पद्य में ग्रहों (खेचरों) को 'जैनेन्द्र' बतलाया है और उनके पूजन की प्रेरणा की है। इसके बाद चार पद्यों में तीर्थकरों और ग्रहों के नामों का मिश्रण है। ये चारों पद्य संस्कृत साहित्य की दृष्टि से बड़े ही विलक्षण मालूम होते हैं। इनसे किसी यथेष्ट आशय का निकालना बड़े बुद्धिमान् का काम है।^{१४} सातवें पद्य में खेचरों सहित जिनेन्द्रों के पूजन की प्रेरणा है। आठवें पद्य में ग्रहों के नाम दिये हैं और उन्हें 'जिन' भगवान् की पूजा करने वाले बतलाया है। इसके बाद के दो पद्यों में लिखा है कि –“जो कोई जिनेन्द्र के सन्मुख ग्रहों को प्रसन्न करने के लिए 'नमस्कारशत' को भक्तिपूर्वक १०५ बार जपता है (उससे क्या होता है? यह कुछ नहीं बतलाया)। पाँचवें श्रुतकेवली भद्रबाहु ने यह सब कथन किया है। विद्यानुवाद पूर्व की ग्रहशांति विधि की गई।” यथा—

जिनानामग्रतो योहि ग्रहाणां तुष्टिहेतवे।
नमस्कारशतं भक्त्या जपेदष्टोत्तरं शतं॥६॥
भद्रबाहुर्वाचेति पंचमः श्रुतकेवली।
विद्यानुवादपूर्वस्य ग्रहशांतिविधिः कृतः॥१०॥

११वें पद्य में यह बतलाया है कि जो कोई नित्य प्रातःकाल उठकर विघ्नों की शांति के लिए पढ़े (क्या पढ़े? यह कुछ सूचित नहीं किया) उसकी विपदाएँ नाश हो जाती हैं और उसे सुख मिलता है। इसके बाद एक पद्य में ग्रहों की धूप के, दूसरे में ग्रहों की समाधि के और तीसरे में सप्त धान्यों के नाम दिये हैं और अन्तिम पद्य में यह बतलाया है कि कैसे यज्ञ के समान कोई शत्रु नहीं है। अध्याय के इस सम्पूर्ण परिचय से पाठक भले प्रकार समझ सकते हैं कि इन सब कथनों का प्रकृत विषय (ग्रहस्तुति) से कहाँ तक सम्बन्ध है और आपस में भी ये सब कथन कितने एक दूसरे से संबंधित और सुगठित मालूम होते हैं! आश्चर्य है कि ऐसे असम्बद्ध कथनों को भी भद्रबाहु श्रुतकेवली का वचन बतलाया जाता है।

(ग) तीसरे खण्ड में 'शास्ति' नाम के पाँचवें अध्याय का प्रारंभ करते हुए सबसे पहले निम्नलिखित श्लोक दिया है—

२३. 'शान्ति' नाम का एक दूसरा अध्याय नं० १० इस तीसरे खण्ड में अलग दिया है, जिसमें 'ग्रहशांति' का बहुत कुछ विस्तार के साथ वर्णन है। यह अध्याय ग्रहशांति का नहीं है।

२४. उक्त चारों पद्य इस प्रकार हैं, जिनका अर्थ पाठकों को किसी संस्कृत जानने वाले से मालूम करना चाहिए—

“पद्यप्रभस्य मार्तण्डश्चंद्रश्चन्द्रप्रभस्य च। वासुपूज्यस्य भूपुत्रो बुधेप्यष्टजिनेश्वराः॥३॥

विमलानन्तधर्माणः शांतिकुंथुर्नमिस्तथा। वर्धमानजिनेन्द्रस्य पादपद्मे बुधं न्यसेत्॥४॥

वृषभाजितसुपाश्वरश्चाभिनंदनशीतलौ। सुमतिः संभवः स्वामी श्रेयांसश्च बृहस्पतेः॥५॥

सुविधेः कथितः शुक्रः सुव्रतस्य शनैश्चर। नेमिनाथो भवेद्राहोः केतुः श्रीमल्लिपाश्वरयोः॥६॥”

**ग्रहस्तुतिः प्रतिष्ठा च मूलमंत्रर्षिपुत्रिके।
शास्त्रिके क्रियादीपे फलशान्ति दशोत्तरे॥१॥**

यह श्लोक वही है जो, उत्तर खण्ड के दस अध्यायों की सूची प्रकट करता हुआ, अन्तिम वक्तव्य में नं० ५ पर पाया जाता है और जिसका पिछले लेख में उल्लेख हो चुका है। यहाँ पर यह श्लोक बिल्कुल असम्बद्ध मालूम होता है और ग्रन्थकर्ता की उन्मत्तदशा को सूचित करता है। साथ ही इससे यह भी पाया जाता है कि 'अंतिम वक्तव्य' अन्तिम खण्ड के अंत में नहीं बना, बल्कि वह कुल या उसका कुछ भाग पहले से गढ़ा जा चुका था। तब ही उसके उक्त वाक्य का यहाँ इतने पहले से अवतार हो सका है। इस श्लोक के आगे प्राकृत के ११ पद्यों में संस्कृत छाया सहित इस अध्याय का जो कुछ वर्णन किया है वह पहले पद्य को छोड़कर जिसमें मंगलाचरण और प्रतिज्ञा है, किसी यक्ष की पूजा से उठाकर रखा गया है और उसकी 'जयमाल' मालूम होता है।^{१५}

(घ) तीसरे खण्ड के ९ वें अध्याय में ग्रहचार का वर्णन करते हुए 'शनैश्चरचार' के सम्बन्ध में जो पद्य दिया है वह इस प्रकार है—

शनैश्चरं चारमिदं च भूमिपोयो केत्ति विद्वान्निभृतो यथावत्।

सपूजनीयो भुवि लब्धकीर्तिः सदा सहायेव हि दिव्यचक्षुः॥४३॥

इस पद्य में शनैश्चरचार का कुछ भी वर्णन न देकर सिर्फ उस विद्वान् राजा की प्रशंसा की गई जो शनैश्चरचार के 'इस कथन' को जानता है। परन्तु इससे यह मालूम न हुआ कि शनैश्चरचार का वह कथन कौनसा है जिसका यहाँ 'इदं' (इस) शब्द से ग्रहण किया गया है। क्योंकि अध्याय भर में इस पद्य से पहले या पीछे इस विषय का कोई भी दूसरा पद्य नहीं है जिससे इस 'इदं' शब्द का सम्बन्ध हो सके। इसलिए यह पद्य यहाँ पर बिल्कुल असम्बद्ध और अनर्थक मालूम होता है। ग्रन्थकर्ता ने इसे दूसरे खण्ड के 'शनैश्चरचार' नाम के १६वें अध्याय से उठाकर रखा है जहाँ पर यह उक्त अध्याय के अंत में दर्ज है। इसी तरह पर ग्रहाचार सम्बन्धी अध्यायों के प्रायः अन्तिम पद्य है और वहीं से उठाकर यहाँ रखे गये हैं। नहीं मालूम ग्रन्थकर्ता ने ऐसा करके अपनी मूर्खता प्रकट करने के सिवाय और कौन सा लाभ निकाला है।

(ङ) पहले खण्ड में 'प्रायश्चित्त' नाम का दसवाँ अध्याय है। इस अध्याय के शुरू में, पहले कुछ पद्य देकर 'इदं प्रायश्चित्तप्रकरणमारभ्यते' इस वाक्य के बाद, ये तीन पद्य दिये हैं, और इनके आगे बरतनों की शुद्धि आदि का कथन है—

यथाशुद्धिं व्रतं धृत्वे पासकाचारसूचितम्।

भोगोपभोगनियमं दिग्देशनियतिं तथा॥१॥

२५. मंगलाचरण के बाद का पद्य निम्न प्रकार है और अंत में 'घत्ता' के बाद 'मइ णिम्मल होउ...' इत्यादि एक पद्य दिया है— "चारणावास कैलास सैलासिओ, किंणरीवेणुवीणाझुणीतोसिओ। सामवण्णो सउण्णो पसण्णो मुहो, आइ देवाण देवाहि पम्मो मुहो॥३॥"

अनर्थदंडविरतिं तथा नित्यं व्रतं क्रमात्।
अर्हदादीन्नमस्कृत्य चरणं गृहमेधिनाम्॥२॥
कथितं मुनिनाथेन श्रुत्वा तच्छ्रावयेदमून्।
पायाद्यतिकुलं नत्वा पुनर्दर्शनमस्त्विति॥३॥

इन तीनों पद्यों का अध्याय के पहले पिछले कथन से प्रायः कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। तीसरे पद्य का उत्तरार्द्ध भी शेष पद्यों के साथ असंगत जान पड़ता है। इसलिए ये पद्य यहाँ पर असम्बद्ध मालूम होते हैं। इनमें लिखा है कि- ‘उपासकाचार में कहे हुए भोगोपभोगपरिमाण व्रत को दिग्विरति, देशविरति तथा अनर्थदंडविरति नाम के व्रतों को और वैसे ही अन्य नित्य व्रतों को क्रमशः यथाशक्ति धारण करके और अर्हतादिक को नमस्कार करके मुनिनाथ ने गृहस्थों के चारित्र का वर्णन किया है। उसको सुनकर उन्हें सुनाये, रक्षा करे, यतिकुल को नमस्कार करके फिर दर्शन होवे, इस प्रकार।’ इस कथन की अन्य बातों को छोड़कर, मुनिनाथ ने उपासकाचार में कहे हुए श्रावकों के व्रतों को धारण किया, और वह भी पूरा नहीं, यथाशक्ति। तब कहीं गृहस्थों के चारित्र का वर्णन किया, यह बात बहुत खटकती है और कुछ बनती हुई मालूम न होकर असमंजस प्रतीत होती है। जैन सिद्धान्त की दृष्टि से मुनीश्वरों को श्रावकों के व्रतों के धारण करने की कोई जरूरत नहीं है। वे अपने महाव्रतों को पालन करते हुए गृहस्थों को उनके धर्म का सब कुछ उपदेश दे सकते हैं। नहीं मालूम ग्रन्थकर्ता ने कहाँ- कहाँ के पदों को आपस में जोड़कर यहाँ पर यह असमंजसता उत्पन्न की है। परन्तु इसे छोड़िए और एक नया दृश्य देखिए। वह यह है कि, इस अध्याय में अनेक स्थानों पर कीड़ी, बीड़ा, ताम्बूल बीड़ा, खटीक, चमार, मोची, डोहर, कोली, कंदी, जिमन, खाती, सोनार, ठठेरा, छीपी, तेली, नाई, डोंव, वुरुड और मनियार इत्यादि बहुत से ऐसे शब्दों का प्रयोग पाया जाता है जिनका हिन्दी आदि दूसरी भाषाओं के साथ सम्बन्ध है। संस्कृत ग्रन्थ में संस्कृत वाक्यों के साथ इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग बहुत ही खटकता है और इनकी वजह से यह सारा अध्याय बड़ा ही विलक्षण और बेढंगा मालूम होता है। नमूने के तौर पर ऐसे कुछ वाक्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं-

१. “चांडालकलालचमारमोचीडोहरयोगिकोलीकंदीनां गृहे जिमन-इतर-समाचारं करोति तस्य प्रायश्चित्त....मोकलाभिषेकाः विंशति...बीड़ा १००।”

२. “अष्टादशप्रकारजातिमध्ये सालिमालीतेलीतंवीसूत्रधार-खातीसोनार-ठठेरा-कुंभकार-परोथट-छीपी-नाई-डोंववुरुडगणीमनी यारचित्रकार इत्यादयः प्रकारा एतेषां गृहे भुंक्ते समाचारं करोति तस्य प्रायश्चित्तं उपवासा ९, एकभक्तानि ३... ताम्बूल बीड़ा ४००।

मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ता ने यह सब कथन किसी ऐसे ही खिचड़ी ग्रन्थ से उठाकर रखा है और उसे इसको शुद्ध संस्कृत का रूप देना नहीं आया। इससे पाठक ग्रन्थकर्ता की संस्कृत संबंधित योग्यता का भी बहुत कुछ अनुभव कर सकते हैं। इस तरह पर यह ग्रन्थ इधर-उधर के प्रकरणों का एक बेढंगा संग्रह है। ग्रन्थकर्ता यह सब संग्रह कर तो गया, परन्तु मालूम होता है कि बाद को किसी

घटना से उसे इस बात का भय जरूर हुआ है कि कहीं मेरी यह सब पोल सर्वसाधारण पर खुल न जाये। और इसलिए उसने इस ग्रन्थ पर, अपने अन्तिम वक्तव्य में, यह आज्ञा चढ़ा दी है कि, 'यह संहिता (भट्टारक की गद्दी पर बैठने वाले) आचार्य के सिवाय और किसी को भी न दी जाये। मिथ्यादृष्टि और मूढात्मा को देने से लोप हो जायेगा। आगे के लोग पक्षपाती होंगे। यह संहिता सम्यग्दृष्टि महासूरि (भट्टारक) के ही योग्य है, दूसरे के योग्य नहीं है।' यथा—

संहितेयं तु कस्यापि न देया सूरिभिर्विना॥१५॥

मिथ्यात्विने च मूढाय दत्ता धर्मे विलुपति।

पक्षपातयुताश्चाग्रे भविष्यन्ति जनाः खलु॥१६॥

एषा महामंत्रयुता सुप्रभावा च संहिता।

सम्यग्दृशो महासूरैर्योग्येयं नापरस्य च॥१७॥

पाठकगण! देखा, कैसी विलक्षण आज्ञा है! धर्म के लोप हो जाने का कैसा अद्भुत सिद्धान्त है! कैसी अनोखी भविष्यवाणी की गई है! और किस प्रकार से ग्रन्थकर्ता ने अपने मिथ्यात्व, मूढता और पक्षपात पर परदा डालने के लिए दूसरों को मिथ्यादृष्टि, मूढ़ और पक्षपाती ठहराया है!! साम्प्रदायिक मोह और बेशरमी की भी हद हो गई!!! परन्तु कुछ भी हो, इस आज्ञा का इतना परिणाम जरूर निकला है कि समाज में इस संहिता का अधिक प्रचार नहीं हो सका और यह अच्छा ही हुआ। अब जो लोग इस संहिता का प्रचार करना चाहते हैं, समझना चाहिए कि, वे ग्रन्थकर्ता के उक्त समस्त कूटजाल और अयुक्ताचरण के पोषक तथा अनुमोदक ही नहीं बल्कि भद्रबाहु श्रुतकेवली की योग्यता और उनके पवित्र नाम को बट्टा लगाने वाले हैं। अगले लेख में, विरुद्ध कथनों का उल्लेख करते हुए, यह भी दिखलाया जायेगा कि ग्रन्थकर्ता ने इस संहिता के द्वारा अपने किसी कुत्सित आशय को पूरा करने के लिए लोगों को मार्गभ्रष्ट (गुमराह) और श्रद्धान भ्रष्ट करने का कैसा नीच प्रयत्न किया है।

१५-११-१९१६

(३)

इस ग्रन्थ में निमित्त और ज्योतिष आदि सम्बन्धी फलादेश का जो कुछ वर्णन है, यदि उस सब पर बारीकी के साथ सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाये और उसे सिद्धान्त से मिलान करके दिखलाया जाये, तो इसमें संदेह नहीं, कि विरुद्ध कथनों के ढेर के ढेर लग जायें। परन्तु जैन समाज अभी इतने बारीक तथा सूक्ष्म विचारों को सुनने और समझने के लिए तैयार नहीं है और न एक ऐसे ग्रन्थ के लिए इतना अधिक प्रयास और परिश्रम करने की कोई जरूरत है, जो पिछले लेखों द्वारा बहुत स्पष्ट शब्दों में विक्रम संवत् १६५७ और १६६५ के मध्यवर्ती समय का बना हुआ ही नहीं, बल्कि इधर उधर के प्रकरणों का एक बेढंगा संग्रह भी सिद्ध किया जा चुका है। इसलिए आज इस लेख में, फलादेश सम्बन्धी सूक्ष्म विचारों को छोड़कर, बहुत मोटे रूप से विरुद्ध कथनों का दिग्दर्शन कराया जाता है। जिससे और भी जैनियों की कुछ थोड़ी-बहुत आँखें खुलें, उनका साम्प्रदायिक मोह टूटे और उनकी

अंधी श्रद्धा दूर होकर उनमें सदसद्विवेकवती बुद्धि का विकास हो सके—

पूर्वापर विरुद्ध ।

(१) पहले खण्ड के तीसरे अध्याय में, दंड के स्वरूप का वर्णन करते हुए, लिखा है कि—

“हा-मा-धिक्कारभेदश्च वाग्दंडः प्रथमो मतः ।

द्वितीयो धनदण्डश्च देहदंडस्तृतीयकः॥२४२॥

तुरीयो ज्ञातिदंडश्च देयाः कृत्यानुसारतः ।

दोषानुसारतश्चैव चतुर्वर्णोभ्य एव च॥२४३॥

आप्तश्रीआदिदेवेन प्रथमो दंड उद्धृतः ।

वासुपूज्यो द्वितीयं च तृतीयं षोडशस्तथा॥२४४॥

तुरीयं वर्धमानस्तु प्रोक्तवानद्य पंचमे ।

काले दोषानुसारेण दीयते सर्वभूमिपैः॥२४५॥

अर्थात्—दंड चार प्रकार का होता है। पहला वाग्दंड, जिसके हा, मा और धिक्कार ऐसे तीन भेद हैं, दूसरा धनदण्ड, तीसरा देहदंड (वधबन्धादिरूप) और चौथा ज्ञातिदंड (जातिच्युतादिरूप)। ये सब दंड अपराधों और कृत्यों के अनुसार चारों ही वर्णों के लिए प्रयुक्त किये जाने के योग्य हैं। इनमें से पहले दंड के प्रणेता भगवान् श्री आदिनाथ (ऋषभदेव), दूसरे के भगवान् वासुपूज्य, तीसरे के १६वें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ और चौथे दंड के प्रणेता श्री वर्धमान स्वामी हुए हैं। आजकल पांचवें काल में सम्पूर्ण राजाओं के द्वारा ये सभी दंड अपराधों के अनुसार प्रयुक्त किये जाते हैं। इस कथन से ऐसा सूचित होता है कि, तीसरे काल के अंत से प्रारंभ होकर, चतुर्थ काल में यह चार प्रकार का दंडविधान उपर्युक्त अलग अलग तीर्थंकरों के द्वारा संसार में प्रवर्तित हुआ है। परन्तु वास्तव में ऐसा हुआ या नहीं, यह अभी निर्णयाधीन है और उस पर विचार करने का इस समय अवसर नहीं है। यहाँ पर मैं सिर्फ इतना बतला देना जरूरी समझता हूँ कि दंडप्रणयन-सम्बन्धी यह सब कथन ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ सत्य प्रतीत नहीं होता। श्री गुणभद्राचार्यकृत महापुराण (उत्तरपुराण) में या उससे पहले के बने हुए किसी माननीय प्राचीन जैन ग्रन्थ में भी इसका कोई उल्लेख नहीं है। हाँ, भगवज्जिनसेन-प्रणीत आदिपुराण में इतना कथन जरूर मिलता है कि ऋषभदेव ने हा-मा-धिक्कार लक्षण वाला वह वाचिक दंड प्रवर्तित किया था जिसको उनसे पहले के कुलकर (मनु) जारी कर चुके थे और इसलिए जो उनके अवतार से पहले ही भूमंडल पर प्रचलित था। साथ ही, उक्त ग्रन्थों में यह भी लिखा हुआ मिलता है कि ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती ने वधबन्धादि लक्षण वाले शारीरिक दंड की भी योजना की थी।^{२६} जिससे पौराणिक दृष्टि की अपेक्षा यह बात स्पष्ट हो जाती है कि तीसरे शारीरिक दंड का प्रणयन शान्तिनाथ से बहुत पहले प्रायः ऋषभदेव के समय में ही हो चुका था। यहाँ पाठकों को यह

२६. यथा—शारीरं दंडनं चैव वध-बन्धादिलक्षणम्। नृणां प्रबलदोषेण भरतेन नियोजितम् ॥२१६॥

जानकर आश्चर्य होगा कि आदिपुराण का यह सब कथन संहिता के 'केवल काल' नामक ३४ २७ वें २८ अध्याय में भी पाया जाता है। परन्तु इन सब बातों को छोड़िए, और संहिता के इस निम्न वाक्य पर ध्यान दीजिए, जिसमें उक्त कथन से आगे अपराधों के चार विभाग करके प्रत्येक के दंड विधान का नियम बतलाते हुए लिखा है कि- 'व्यवहार में वागदंड, चोरी के काम में धनदण्ड, बालहत्यादिक में देहदंड और धर्म के लोप में ज्ञाति दंड का प्रयोग होना चाहिए।' यथा-

“व्यवहारे तु प्रथमो द्वितीयः स्तैन्यकर्मणि।

तृतीयो बालहत्यादौ धर्मलोपेऽन्तिमः स्मृतः॥२४७॥

दंड विधान का यह नियम जगत् का शासन करने के लिए कहाँ तक समुचित और उपयोगी है, इस विचार को छोड़कर, जिस समय हम इस नियम को सामने रखते हुए इसी खण्ड के अगले दंड विधान सम्बन्धी अध्यायों का पाठ करते हैं उस समय मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ता महाशय ने स्थान स्थान पर स्वयं ही इस नियम का उल्लंघन किया है। और इसलिए उनका यह सम्पूर्ण दंड विषयक कथन पूर्वापर विरोध दोष से दूषित है साथ ही, श्रुतकेवली जैसे विद्वानों की कीर्ति को कलंकित करने वाला है। उदाहरण के तौर पर यहाँ उसके कुछ नमूने दिखलाये जाते हैं-

“हामाकारौ च दंडोऽन्यैः पंचभिः सम्प्रवर्तितः।

पंचभिस्तु ततः शेषैर्हामाधिकारलक्षणः॥३-२१५॥

“कूपाद्रज्जुं घटं वस्त्रं यो हरेत्स्तैन्यकर्मणा।

कशाविंशतिभिस्ताड्यः पुनर्ग्रामाद्विवासयेत्॥७-१२॥

इस पद्य में कुएँ पर से रस्सी, घड़ा तथा वस्त्र चुराने वाले के लिए २० चाबुक से ताड़ित करने और फिर ग्राम से निकाल देने की सजा तजवीज की गई है। पाठक सोचें, यह सजा पहले नियम के कितनी विरुद्ध है और साथ ही कितनी अधिक सख्त है! उक्त नियमानुसार चोरी के इस अपराध में धनदण्ड (जुर्माना) का विधान होना चाहिए था, देह दंड या निर्वासन का नहीं।

“कुलीनानां नराणां च हरणे बालकन्ययोः।

तथानुपमरत्नानां चौरौ बंदिग्रहं विशेत्॥७-१६॥

येन यज्ञोपवीतादिकृते सूत्राणि यो हरेत्।

संस्कृतानि नृपस्तस्य मासैकं बंधके न्यसेत्॥२४॥

इन दोनों पद्यों में चोर के लिए बंदीग्रह (जेलखाना) की सजा बतलाई गई है। पहले पद्य में यह सजा कुलीन मनुष्यों, बालक-बालिकाओं और उत्तम स्त्रियों को चुराने के अपराध में तजवीज की गई

२७. जिसका एक पद्य इस प्रकार है-“हामाधिगनीतिमार्गोक्तोऽस्य पुत्रो भरतोऽग्रजः।

चक्री कुलकरो जातो वध बन्धादिदंडभृत्॥१२०॥”

२८. इस अध्याय की शब्दरचना से मालूम होता है कि वह प्रायः आदिपुराण पर से उसे देखकर बनाया गया है।

है। दूसरे पद्य में लिखा है कि जो यज्ञोपवीत (जनेऊ) आदि के लिए संस्कारित किये हुए सूत के डोरों को चुराता है, राजा को चाहिए कि उसे एक महीने तक कैद में रखे। चोरी के काम में धनदण्ड विधान न करके यह दंड तजवीज करना भी उपर्युक्त नियम के विरुद्ध है।

“केशान् ग्रीवां च वृषणं कोधाद्गृह्णाति यः शठः।

दंड्यते स्वर्गनिष्केण प्राणिघाताभिलोलुपः॥६-२०॥

त्वग्भेत्ता तु शतैर्दण्ड्यः ब्राह्मणोऽसृक्प्रच्यावने।

शतद्वयेन दंड्यः स्यात्तुर्यैर्मासापकर्षकः ॥२१॥

इन दोनों पद्यों में प्राणिघात की इच्छा से क्रोध में आकर दूसरे के केश, गर्दन और अंडकोश पकड़ने वाले व्यक्ति को, तथा त्वचा का भेद करने वाले, रक्तपात करने वाले और मांस उखाड़ने वाले ब्राह्मण को शारीरिक दंड का विधान न करके धनदण्ड का विधान किया गया है। यह भी उपर्युक्त नियम के विरुद्ध है। इसके आगे तीन पद्यों में, उद्यान को जाते हुए किसी वृक्ष की छाल, दंड, पत्र या पुष्पादिक को तोड़ डालने अथवा नष्ट कर डालने के अपराध में धनदण्ड का विधान न करके ‘प्रवास्यो वृक्षभेदकः’ इस पद के द्वारा वृक्ष तोड़ डालने वाले के लिए देश से निकाल देने की सजा तजवीज की है। यह सजा उपर्युक्त नियम से कहाँ तक सम्बन्ध रखती है, इसे पाठक स्वयं विचार सकते हैं।

“वैश्यः शूद्रोऽथवा काष्ठधातुनिर्मित आसने।

क्षत्रियद्विजयोर्मोहाद्वर्पाच्चोपविशेत्तदा ॥६-१७॥

कशाविंशतिर्भिवैश्यः पञ्चाशद्विश्व ताड्यते।

शूद्रः पुनस्तु सता-(?) मासनं कोऽपि न श्रयेत्॥१८॥

दृष्ट्वा महान्तं यो दर्पांनिष्ठीवति हसेच्च वा।

चतुर्वर्णेषु यः कश्चिद्दण्ड्यते दश राजतैः॥१९॥”

इन पद्यों में से दो पद्यों में लिखा है कि ‘यदि क्षत्रिय तथा ब्राह्मण के आसन पर कोई वैश्य अथवा शूद्र बैठ जाये तो वैश्य को २० और शूद्र को ५० चाबुक की सजा देनी चाहिए! तीसरे पद्य में किसी भी वर्ण के उस व्यक्ति के लिए धनदण्ड का विधान किया गया है जो किसी महान् पुरुष को देखकर हँसता है अथवा घृणा प्रकाशित करने रूप थूकता है। उपर्युक्त नियमानुसार इन दोनों प्रकार के कृत्यों के लिए यदि कोई दंडविधान हो सकता था तो वह सिर्फ वाग्दंड था। क्योंकि आसन पर बैठने और हँसने आदि कृत्यों का चोरी आदि अपराधों में समावेश नहीं हो सकता। परन्तु यहाँ पर ऐसा विधान नहीं किया गया, इसलिए यह कथन भी पूर्वापर विरोध दोष से दूषित है।

“मूर्खः सारथिरेव स्याद्युग्यस्था दंडभागिनः।

भूपः पणशतं लात्वा हानिमीशं च दापयेत्॥६-३५॥

इस पद्य में, मूर्ख गाड़ीवान के कारण गाड़ी से किसी को हानि पहुँचने पर, गाड़ी में बैठे हुए

उन स्त्री पुरुषों को भी धनदण्ड का पात्र ठहराया है जो बेचारे उस गाड़ी के स्वामी नहीं हैं और न जिनको उक्त गाड़ीवान के मूर्ख या कुशल होने का कोई ज्ञान है। समझ में नहीं आता कि उक्त नियम के अनुसार गाड़ी में बैठे हुए ऐसे मुसाफिरों को कौन से अपराध का अपराधी माना जाये? अस्तु, इस प्रकार के विरुद्ध कथनों से इस ग्रन्थ के कई अध्याय भरे हुए हैं। मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ता को इधर-उधर से वाक्यों को उठाकर रखने में आगे पीछे के कथनों का कुछ भी ध्यान नहीं रहा और इससे उसका यह सम्पूर्ण दंड विषयक कथन कुछ अच्छा व्यापक और सिलसिलेवार भी नहीं बन सका।

(२) दूसरे खण्ड के 'उत्पात' नामक १४ वें अध्याय में लिखा है कि, यदि बाजे बिना बजाये हुए स्वयं बजने लगें और विकृत रूप को धारण करें तो कहना चाहिए कि छठे महीने राजा बद्ध होगा (बंदिगृह में पड़ेगा) और अनेक प्रकार के भय उत्पन्न होंगे। यथा—

“अनाहतानि तूर्याणि नदन्ति विकृतिं यथा।

षष्ठे मासे नृपो बद्धो भयानि च तदा दिशेत्॥१६५॥

परन्तु तीसरे खण्ड के 'ऋषिपुत्रिका' नामक चौथे अध्याय में इसी उत्पात का फल पाँचवें महीने राजा की मृत्यु होना लिखा है। यथा—

अह गंदितूरसंखा वज्जन्ति अणाहया विफुट्ठन्ति।

अह पंचमम्मि मासे णरवड्मरणं च णायव्वं॥१३॥^{२९}

इससे साफ प्रकट है कि ये दोनों पद्य पूर्वापर विरोध को लिये हुए हैं और इसलिए इनका निर्माण किसी केवली द्वारा नहीं हुआ। साथ ही, इससे यह भी सूचित होता है कि ये दोनों पद्य ही नहीं बल्कि संभवतः ये दोनों अध्याय ही भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा रचे गये हैं।

(३) भद्रबाहुसंहिता के 'चंद्रचार' नामक २३वें अध्याय में लिखा है कि 'श्वेत, रक्त, पीत तथा कृष्ण वर्ण का चंद्रमा यथाक्रम अपने वर्णवाले को (क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को) सुख का देने वाला और विपरीत वर्ण के लिए भयकारी होता है। यथा—

श्वेतो रक्तश्च पीतश्च कृष्णाश्चापि यथाक्रमं।

सवर्णं सुखदश्चन्द्रो विपरीतं भयावहः॥१६॥

परन्तु तीसरे खण्ड के उसी 'ऋषिपुत्रिका' नाम के चौथे अध्याय में यह बतलाया है कि 'समानवर्ण का चंद्रमा समान वर्णवाले को भय और पीड़ा को देने वाला होता है' 'कृष्ण चंद्रमा शूद्रों का विनाश करता है' यथा—

“समवर्णो समवर्णं भयं च पीडं तहा णिवेदेहि।

लक्खारसप्पयासो कुणदि भयं सव्वदेसेसु॥३६॥

किण्हो सुड्ढविणासइ..... चंदो॥३८॥

२९. संस्कृतच्छाया— अथ नंदितूरसंखा नदन्ति अनाहताः स्फुटन्ति।

अथ पंचमं मासे नरपतिमरणं च ज्ञातव्यं॥१३॥

चंद्रफलादेश सम्बन्धी यह कथन पहले कथन के बिल्कुल विरुद्ध है वह सुख होना कहता है तो यह दुःख होना बतलाता है। समझ में नहीं आता कि ऐसी हालत में कौन बुद्धिमान् इन कथनों को केवली या श्रुतकेवली के वाक्य मानेगा? वास्तव में ऐसे पूर्वापर विरुद्ध कथन किसी भी केवली के वचन नहीं हो सकते। अस्तु। ये तो हुए पूर्वापर विरुद्ध कथनों के नमूने। अब आगे दूसरे प्रकार के विरुद्ध कथनों को लीजिए।

मिथ्या क्रियायें

(४) संहिता के द्वितीय खण्ड विषयक अध्याय नं० २७ में लिखा है कि ‘प्रीति’ और ‘सुप्रीति’ ये दो क्रियायें पुत्र के जन्म होने पर करनी चाहिए। साथ ही, जन्म से पहले ‘पुंसवन’ और ‘सीमन्त’ नाम की दूसरी दो क्रियाओं के करने का भी विधान किया है। यथा—

गर्भस्य त्रितये मासे व्यक्ते पुंसवनं भवेत्।
गर्भे व्यक्ते तृतीये चेच्चतुर्थे मासि कारयेत्॥१३९॥
अथ षष्ठाष्टमे मासि सीमन्तविधिरुच्यते।
केशमध्ये तु गर्भिण्याः सीमा सीमन्तमुच्यते॥१४२॥
पुत्रस्य जन्मसंजातौ प्रीतिसुप्रीतिके क्रिये।
प्रियोद्धवश्च सोत्साहः कर्तव्यो जातकर्मणि॥१४९॥

परन्तु भगवज्जिनसेनप्रणीत आदिपुराण में गर्भाधान से निर्वाण पर्यन्त ५३ क्रियाओं का वर्णन करते हुए, जिनमें उक्त ‘पुंसवन’ और ‘सीमन्त’ नाम की क्रियायें नहीं हैं, लिखा है कि ‘प्रीति’ क्रिया गर्भ से तीसरे महीने और सुप्रीति क्रिया पाँचवें महीने करनी चाहिए। साथ ही, यह भी लिखा है कि उक्त ५३ क्रियाओं से भिन्न जो, दूसरे लोगों की मानी हुई, गर्भ से मरण तक की क्रियायें हैं वे सम्यक् क्रियायें न होकर मिथ्या क्रियायें समझनी चाहिए। यथा—

“गर्भाधानात्परं मासे तृतीये संप्रवर्त्तते।
प्रीतिर्नामि क्रिया प्रीतैर्याऽनुष्ठेया द्विजन्मभिः॥३८-७७॥
आधानात्पंचमे मासि क्रिया सुप्रीतिरिष्यते।
या सुप्रीतैः प्रयोक्तव्या परमोपासकव्रतैः ॥८०॥
क्रिया गर्भदिका यास्ता निर्वाणान्ताः पुरोदिताः।
आधानादिस्मशानान्ता न ताः सम्यक्क्रिया मताः॥३९-२५॥

इससे साफ जाहिर है कि संहिता उक्त कथन आदिपुराण के कथन से विरुद्ध है और उसकी ‘पुंसवन’ तथा ‘सीमन्त’ नाम की दोनों क्रियायें भगवज्जिनसेन के वचनानुसार मिथ्या क्रियायें हैं। वास्तव में ये दोनों क्रियायें हिन्दू धर्म की क्रियायें (संस्कार) हैं। हिन्दुओं के धर्म ग्रन्थों में इनका विस्तार के साथ वर्णन पाया जाता है। पुंसवन सम्बन्धी क्रिया का अभिप्राय उनके यहाँ यह माना जाता है

३०. गर्भवती के केशों की रचना-विशेष माँग उपाड़ना।

कि इसके कारण गर्भिणी के गर्भ से लड़का पैदा होता है। परन्तु जैन सिद्धान्त के अनुसार, इस प्रकार के संस्कार से, गर्भ में आई हुई लड़की का लड़का नहीं बन सकता। इसलिए जैन धर्म से इस संस्कार का कुछ सम्बन्ध नहीं है।

दंड में मुनि-भोजन-विधान

(५) इस संहिता के प्रथम खण्ड में 'प्रायश्चित्त' नाम का एक अध्याय है, जिसके दो भाग हैं—पहला पद्य भाग और दूसरा गद्य भाग। पद्य भाग में व्यभिचार का दण्डविधान करते हुए, एक स्थान पर ये चार पद्य दिये हैं—

माता मातानुजा ज्येष्ठा लिंगिनी भगिनी स्नुषा।
चाण्डाली भ्रातृपत्नी च मातुली गोत्रजाथवा॥२८॥
सकृद्भान्त्याथ दर्पाद्वा सेविता दुर्जनेरिता।
प्रायश्चित्तोपवासाः स्युस्त्रिंशत्तच्छीर्षमुंडनम्॥२९॥
तीर्थयात्राश्च पंचैव महाभिषेकपूर्वकम्।
कृत्वा नित्यार्चनायाश्च क्षेत्रं घटां वितीर्य च॥३०॥
भोजयेन्मुनिमुख्यानां संघं द्विशतसंमितं।
वस्त्राभरणताम्बूलभोजनैः श्रावकान् भजेत्॥३१॥

इन पद्यों में लिखा है कि यदि एक बार भ्रम से अथवा जान बूझकर अपनी माता, माता की छोटी-बड़ी बहिन, लिंगिनी (आर्यिकादिक), बहिन, पुत्रवधू, चांडाली, भाई की स्त्री, मामी अथवा अपने गोत्र की किसी दूसरी स्त्री का सेवन हो जाये तो उसके प्रायश्चित्त में तीस उपवास करने चाहिए, उस स्त्री का सिर मूँडना चाहिए, महाभिषेक पूर्वक पाँच तीर्थयात्रायें करनी चाहिए, नित्यपूजन के लिए भूमि तथा घंटा वितरण करना चाहिए। और यह सब कर चुकने के बाद, प्रधान मुनियों के दो सौ संख्या प्रमाण संघ को भोजन खिलाना चाहिए। साथ ही, श्रावकों को वस्त्राभूषण, ताम्बूल और भोजन से संतुष्ट करना चाहिए। इस दंडविधान में, अन्य बातों को छोड़कर, दो सौ मुनियों को भोजन कराने की बात बड़ी ही विलक्षण है। जैनियों के चरणानुयोग तथा प्राचीन यत्याचार-विषयक ग्रन्थों से इसका जरा भी मेल नहीं है। जिन जैन मुनियों के विषय में लिखा है कि वे उद्गमादिक छ्यालीस दोषों तथा ३२ अंतरायों को टालकर शुद्ध आहार लेते हैं। किसी का निमंत्रण स्वीकार नहीं करते और यह मालूम हो जाने पर, कि भोजन उनके उद्देश्य से तैयार किया गया है, दातार के घर से वापस चले जाते हैं। उनके लिए दंड स्वरूप में प्रस्तुत किया हुआ और खास उन्हीं के उद्देश्य से तैयार किया हुआ इस प्रकार का भोजन कभी विधेय नहीं हो सकता। इसलिए दंडविधान का यह नियम जैनधर्म की नीति के विरुद्ध है। साथ ही, इसका अनुष्ठान भी प्रायः अशक्य जान पड़ता है। बहुत संभव है कि इस दंडविधान में उस समय के भट्टारकों का, जो अपने आपको मुनिमुख्य मानते थे और जिनका थोड़ा बहुत परिचय इस लेख में आगे चलकर दिया जायेगा, कुछ स्वार्थ छिपा हुआ हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमें संदेह

नहीं कि, यह कथन जैनधर्म की दृष्टि से विरुद्ध अवश्य है। जैनधर्म के प्रायश्चित्त ग्रन्थों में श्री नन्दनन्दाचार्य के शिष्य गुरुदासाचार्य का बनाया हुआ 'प्रायश्चित्तसमुच्चय' नाम का एक प्राचीन ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की चूलिका में उक्त प्रकार के अपराध का प्रायश्चित्त सिर्फ ३२ उपवास प्रमाण लिखा है। यथा—

**सुतामातृभगिन्यादि चाण्डालीरभिगम्य च।
अश्रुवीतोपवासानां द्वात्रिंशतमसंशयम्॥१५०॥**

इससे मालूम होता है कि संहिता के उपर्युक्त दंडविधान में उपवासों को छोड़कर शेष मुंडन, तीर्थयात्रा, महाभिषेक, पूजन के लिए भूम्यादि अर्पण और मुनिभोजनादि का, सम्पूर्ण विधान सिर्फ दो उपवासों के स्थान में प्रस्तुत किया गया है। साथ ही, दंड क्षेत्र विस्तृत करने के लिए इसमें कुछ अधिकार वृद्धि भी पाई जाती है। पाठक देखें और सोचें कि, यह सब कथन प्रायश्चित्तसमुच्चय के कथन से कितना असंगत और विरुद्ध है। इस प्रकार का और भी बहुत सा कथन इस अध्याय में पाया जाता है।

पद्य में कुछ और गद्य में कुछ

(६) साथ ही, इस अध्याय में कुछ दंड-विधान ऐसा भी देखने में आता है जो पद्य में कुछ है तो गद्य में कुछ और है। अर्थात् एक ही अपराध के लिए दोनों भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार का दंड प्रयोग किया गया है। और जो इस बात को भी सूचित करता है कि ये दोनों भाग किसी एक व्यक्ति के बनाये हुए नहीं हैं। इस प्रकार के कथनों का एक नमूना इस प्रकार है—

**गर्वान्मांसं च मद्यं च क्षौद्रं सेवितवानसौ।
एकशः क्षपणं तस्य विंशत्यभ्यधिकं शतम्॥२२॥
प्रमादादुपवासाः स्युर्विंशतिर्दोषहानये।**

इस डेढ़ पद्य में गर्व से मद्य, मांस और मधु नामक तीन मकारों के सेवन का प्रायश्चित्त १२१ उपवास प्रमाण और प्रमाद से उनके सेवन का प्रायश्चित्त सिर्फ २० उपवास प्रमाण लिखा है। अब गद्य भाग को देखिए—

“मकारत्रयसेवितस्य प्रायश्चित्तं विद्येत उपवासा द्वादश १२, अभिषेकाः पंचाशत् ५०, आहारदानानि पंचाशत् ५०, कलशाभिषेक एकः १, पुष्पसहस्रचतुर्विंशतिः २४०००, तीर्थयात्रा द्वे २, गंधं पलचतुष्टयं ४, संघपूजा, गद्याण? त्रय सुवर्णे ३, वीटिका शतमेकं, कायोत्सर्गाश्चतुर्विंशतिः। यदि प्रमादतः मकारत्रयसेविता उपवासषट्कं ६, एकभक्ताष्टकं, पंचविंशत्याहारदानानि २५, पंचविंशतिरभिषेकाः २५, पुष्पसहस्राणि पंच ५०००, गंधं पलद्वयं २, पूजा द्वादश १२, ताम्बूलबीटक-पंचाशत् ५०, कायोत्सर्गा द्वादश १२॥”

यह कथन पहले कथन से कितना विलक्षण है, इसे बतलाने की जरूरत नहीं है। पाठक एक नजर डालते ही स्वयं मालूम कर सकते हैं। हाँ, प्रायश्चित्तसमुच्चय का इस विषय में क्या विधान है?

यह बतला देना जरूरी है। और वह इस प्रकार है—

“रेतोमूत्रपुरीषाणि मद्यमांसमधूनि च।

अभक्ष्यं भक्षयेत्षष्ठं दर्पतश्च द्विषट् क्षमाः॥१४७॥

इसमें दर्प से मद्य, मांस और मधु के सेवन का प्रायश्चित्त बारह उपवास प्रमाण बतलाया है और प्रमाद से उनका सेवन होने में ‘षष्ठ’ नाम का प्रायश्चित्त तजवीज किया है, जो तीन उपवास प्रमाण होता है।

सबके लिए एक ही दंड

(७) उक्त ‘प्रायश्चित्त’ नाम के अध्याय में ब्रह्महत्या, गोहत्या, स्त्रीहत्या, बालहत्या और सामान्य मनुष्यहत्या इन सब हत्याओं में से प्रत्येक हत्या करने वाले के लिए एक ही प्रकार का दंड तजवीज किया गया है। यथा—

‘ब्रह्महत्या-गोहत्या-स्त्रीहत्या-बालहत्या-सामान्य-मनुष्यहत्यादिकरणे प्रायश्चित्तं उपवासाः त्रिंशत् ३०, एकभक्तानि पंचाशत् ५०, कलशाभिषेकौ द्वौ।’

परन्तु जैनधर्म की दृष्टि से इन सभी अपराधों के अपराधी एक ही दंड के पात्र नहीं हो सकते। प्रायश्चित्तसमुच्चय की चूलिका में भी गोहत्या से स्त्रीहत्या, स्त्रीहत्या से बालहत्या, बालहत्या से श्रावकहत्या और श्रावकहत्या से साधुहत्या का प्रायश्चित्त उत्तरोत्तर अधिक बतलाया है। यथा—

“साधूपासकबालस्त्रीधेनूनां घातने क्रमात्।

यावद्वादश मासाः स्यात्षष्ठमर्धार्धहानियुक्॥११॥^{३९}

ऐसी हालत में संहिता का सबके लिए उपर्युक्त एक ही प्रकार का दंडविधान करना जैनधर्म की दृष्टि के अनुकूल प्रतीत नहीं होता।

प्रायश्चित्त या अन्याय

(८) इसी प्रायश्चित्ताध्याय में गृहस्थों के लिए बहुत-सा ऐसा दंडविधान भी पाया जाता है जो आकस्मिक घटनाओं से होने वाली मृत्युओं से सम्बन्ध रखता है। जैसे साँप बिच्छू आदि से डसा जाना, व्याघ्र आदि से भक्षित होना, वृक्ष या मकान पर से गिर जाना, मार्ग में जाते हुए ठोकर खाकर गिर पड़ना, वज्रपात का होना, सींगवाले पशु का सींग लग जाना और स्त्री के प्रसव का होना आदि। इन सब कारणों में से किसी भी कारण से जो आकस्मिक मृत्यु होती है उसके लिए यह दंडविधान किया गया है—

“प्रायश्चित्तं उपवासाः ५, एकभक्तानि विंशतिः २०, कलशाभिषेकद्वयं २, पंचामृताभिषेकाः ५, लध्वभिषेकाः पंचविंशतिः, आहारदानानि चत्वारिंशत्, गावौ द्वे २, गंधपला १०, पुष्पसहस्र १०००,

३१. इस पद्य में मुनियों द्वारा ऐसी हत्या हो जाने पर उनके लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है। श्रावकों के लिए इससे कमती प्रायश्चित्त है। परन्तु वह भी उत्तरोत्तर इसी क्रम को लिये हुए है। जैसा कि उक्त चूलिका के इस पद्य से प्रकट है— “श्रमणच्छेदनं यच्च श्रावकानां तदेव हि। द्वयोरपि त्रयाणां च षण्णमर्धार्धहानितः॥१३७॥

संघपूजा गद्याण (?) द्वयं, तीर्थयात्रा कायोत्सर्गाः ६, वीटिका ताम्बूल ५०।”

परन्तु इस दंड का पात्र कौन है? किसको इसका अनुष्ठान करना होगा? यह सब यहाँ कुछ भी नहीं बतलाया गया। जो शख्स मर चुका है उसके लिए तो यह दंड विधान हो नहीं सकता। इसलिए जरूर है कि मृतक के किसी कुटुम्बी के लिए यह सब दंड तजवीज किया गया है। परन्तु उस बेचारे ने कोई अपराध नहीं किया और न मृतक का ही इसमें कोई अपराध था। बिना अपराध के दंड देना सरासर अन्याय है। इसलिए कहना पड़ता है कि यह प्रायश्चित्त नहीं बल्कि अन्याय और अधर्म है, श्रुतकेवली जैसे विद्वानों का यह कर्म नहीं हो सकता। जरूर इसमें किसी का स्वार्थ छिपा हुआ है। गंध, फूल और पानों के बीड़ों आदि को छोड़कर यहाँ पाठकों के सन्मुख दो गाय भी उपस्थित हैं। ये भी दंड में किसी को दान स्वरूप भेंट की जायेंगी। यद्यपि जैनधर्म में गौदान की कोई महिमा नहीं है और न उसके देने से किसी पाप की कोई शांति का होना माना जाता है। प्रत्युत अनेक जैन ग्रन्थों में इस दान को निषिद्ध जरूर लिखा है।^{३२} तो भी ^{३३}उमास्वामिश्रावकाचार जैसे जाली ग्रन्थों में जिनमंदिर के लिए गौदान करने का विधान जरूर पाया जाता है, जिससे अर्हद्भट्टारक के लिए रोजाना शुद्ध पंचामृत तैयार हो सके।^{३४} आश्चर्य नहीं कि ऐसे ही किसी आशय से प्रेरित होकर, उसकी पूर्ति के लिए, उपर्युक्त दंडविधान में तथा इसी ग्रन्थ के अंतर्गत और भी बहुत से दंड प्रयोगों में गोदान का विधान किया गया हो। अस्तु! इसी प्रकार इस अध्याय में कुछ दंडविधान ऐसा भी देखने में आता है जिसमें ‘अपराधी कोई और दंड किसी को’ अथवा ‘खता किसी की सजा किसी को’ इस दुर्नीति का अनुसरण किया गया है। जैसे आत्महत्या (खुदकुशी) का दंड आत्मघाती के किसी कुटुम्ब को, इत्यादि।

संकीर्ण हृदयोद्गार

(९) अब इस प्रायश्चित्ताध्याय से दो चार नमूने ऐसे भी दिखलाये जाते हैं, जो जैनधर्म की उदार नीति के विरुद्ध हैं। यथा—

१. “अस्नातान्न स्पृशेत्सर्वान् स्नातानपि च शूद्रकान्।

कुलालमालिकदिवाकीर्त्तिचक्रिकुविंदकान्॥४५॥

३२. यथा—यया जीवा हि हन्यन्ते पुच्छशृंगखुरादिभिः॥९-५४॥ यस्यां च दुहामानायां तर्णकः पीड्यते तरं। तां गां वितरता श्रेयो लभ्यते न मनागपि॥ -५५॥” -इति अमितगत्युपासकाचारः।

३३. यह ग्रन्थ परीक्षा द्वारा जाली सिद्ध किया जा चुका है। देखो जैन हितैषी दसवाँ भाग अंक १-२।

३४. जैसा कि निम्न वाक्यों से प्रकट है—

“—पुष्पं देयं महाभक्त्या न तु दुष्टजनैर्धृतम्॥२-१२९॥

पयोर्थं गौ जलार्थं वा कूपं पुष्पसुहेतवे। वाटिकां संप्रकुर्वंश्च नातिदोषधरो भवेत्॥१३०॥”

२. मातंगश्वपचादीनां छायापतनमात्रतः ।
तदा जलाशयं गत्वा सचेलस्नानमाचरेत्॥५६॥
३. उच्छिष्टास्पृश्यकाकादिविण्मूत्रस्पर्शसंशये ।
अस्पृश्यमृष्टसूर्पादिकटादिस्पर्शने द्विजः॥८२॥
४. शुद्धे वारिणि पूर्वोक्तयंत्रमंत्रैः सचेलकः ।
कुर्यात्स्नानत्रयं दंतजिह्वाघर्षणपूर्वकम्॥८३॥
५. मिथ्यादृशां गृहे पात्रे भुंक्ते वा शूद्रसन्निधि ।
तदोपवासाः पंच स्युर्जाप्यं तु द्विसहस्रकम्॥८६॥

इन पद्यों में से पहले पद्य में लिखा है कि, चारों वर्णों में से किसी भी वर्ण का अथवा मनुष्य मात्र में से कोई भी क्यों न हो यदि उसने स्नान नहीं किया है तो उसे छूना नहीं चाहिए और शूद्रों को कुम्हार, माली, नाई, तेली तथा जुलाहों को यदि वे स्नान भी किये हुए हों तो भी नहीं छूना चाहिए। ये सब लोग अस्पृश्य हैं। दूसरे पद्य में यह बतलाया है कि यदि किसी मातंग श्वपदादिक की अर्थात् भील, चांडाल, म्लेच्छ, भंगी और चमार आदि की छाया भी शरीर पर पड़ जाये तो तुरन्त जलाशय को जाकर वस्त्रसहित स्नान करना चाहिए तीसरे और चौथे पद्य में यहाँ तक आज्ञा की है कि, यदि किसी उच्छिष्ट पदार्थ से, अस्पृश्य मनुष्यादिक से, काकादिक^{३५} से अर्थात् कौआ, कुत्ता, गधा, ऊँट, पालतू सुअर नाम के जानवरों से और मलमूत्र से छू जाने का संदेह भी हो जाये अथवा किसी ऐसे छाज-छलनी वगैरह का तथा चटाई आसनादिक का स्पर्श हो जाये जिसमें कोई अस्पृश्य पदार्थ लगा हुआ हो तो इन दोनों ही अवस्थाओं में दाँतों तथा जीभ को रगड़कर यंत्र मंत्रों के साथ शुद्धजल में तीन बार वस्त्रसहित स्नान करना चाहिए!! और पाँचवें पद्य में इससे भी बढ़कर यह आदेश है कि यदि मिथ्यादृष्टियों अर्थात् अजैनों के घर पर अपने पात्रों में तथा अपने ही घर पर उनके पात्रों में भोजन हो जाये अथवा शूद्र के घर पर बैठकर चाहे वह सम्यग्दृष्टि और व्रतिक जैनी ही क्यों न हो कुछ खा लिया जाये तो इस पाप की शांति के लिए तुरन्त दो हजार संख्या प्रमाण जाप्य के साथ पाँच उपवास करने चाहिए!!! पाठको! देखा, कैसा धार्मिक उपदेश है! घृणा और द्वेष के भावों से कितना अलग है! परोपकारमय जीवन बिताने तथा जगत् का शासन, रक्षण और पालन करने के लिए कितना अनुकूल है! सार्वजनिक प्रेम और वात्सल्यभाव इससे कितना प्रवाहित होता है। और साथ ही, जैनधर्म के उस उदार उद्देश्य से कितना सम्बन्ध है जिसका चित्र जैन ग्रन्थों में, जैन तीर्थकरों की 'समवसरण' नाम की सभा का नक्शा खींचकर दिखलाया जाता है!! कहा जाता है कि जैन तीर्थकरों की सभा में ऊँच-नीच के भेदभाव को छोड़कर, सब मनुष्य ही नहीं बल्कि पशु-पक्षी तक भी शामिल

३५. 'आदि' शब्द से श्वान (कुत्ता) आदि का जो ग्रहण किया गया है वह इससे पहले के 'स्पृष्टे विण्मूत्रकाक-श्वाखरोष्ट्रग्रामशूकरे' इस वाक्य के आधार पर किया गया है।

होते थे। और वहाँ पहुँचते ही वे आपस में ऐसे हिल-मिल जाते थे कि अपने-अपने जाति-विरोध तक को भी भुला देते थे। सर्प निर्भय होकर नकुल के पास खेलता था और बिल्ली प्रेम से चूहे का आलिंगन करती थी। कितना ऊँचा आदर्श और कितना विश्वप्रेममय भाव है! कहाँ यह आदर्श? और कहाँ संहिता का उपर्युक्त विधान? इससे स्पष्ट है कि संहिता का यह सब कथन जैनधर्म की शिक्षा न होकर उससे बहिर्भूत है। जैन तीर्थंकरों का कदापि ऐसा अनुदार शासन नहीं हो सकता है और न जैन सिद्धान्तों से इसका कोई मेल है। इसलिए कहना होगा कि उपर्युक्त प्रकार का सम्पूर्ण कथन दूसरे धर्मों से उधार लेकर रखा गया है। और यह किसी ऐसे संकीर्णहृदय व्यक्ति का हृदयोद्गार है जिसने शुद्धि और अशुद्धि के तत्त्व को ही नहीं समझा।^{३६} निःसंदेह जब से, कुछ महात्माओं की कृपा से, जैनधर्म के साहित्य में इस प्रकार के अनुदार विचारों का प्रवेश हुआ है तब से जैनधर्म को बहुत बड़ा धक्का पहुँचा है और उसकी सारी प्रगति रुक गई। वास्तव में ऐसे अनुदार विचारों के अनुकूल चलने वाले संसार में कभी कोई उन्नति नहीं कर सकते और न उच्च तथा महान् बन सकते हैं।

पिण्डदान और तर्पण

(१०) पहले खण्ड के ‘दायभाग’ नामक ९वें अध्याय में लिखा है कि ‘दायग्रहण और पिण्डदान में दोहिते पोतों की बराबर हैं’। साथ ही, दूसरे स्थान पर पुत्रों का विभाग करते हुए, जैनागम के अनुसार छह प्रकार के पुत्रों को दायग्रहण और पिण्डदान के अधिकारी बतलाये हैं। यथा—

दाये वा पिण्डदाने च पौत्रैः दौहित्रकाः समाः॥२५॥
औरसो दत्तको मुख्यौ क्रीतसौतसहोदराः।
तथैवोपनतश्चैव इमे गौणा जिनागमे॥
दायादाः पिंडदाश्चैव इतरे नाधिकारिणः॥८४॥

इस कथन से ग्रन्थकर्ता ने यह सूचित किया है कि पितरों के लिए पिण्डदान का करना भी जैनियों द्वारा मान्य है और यह जैनधर्म की क्रिया है। परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। यह सब हिन्दूधर्म की कल्पना है। हिन्दुओं के यहाँ इस पिण्डदान के करने से पितरों की सद्गति आदि अनेक फल माने गये हैं और उनके लिए वे गया आदिक तीर्थों पर भी पिंड देने जाते हैं। जिसका जैनधर्म से कुछ सम्बन्ध नहीं है। जैन सिद्धान्त के अनुसार न तो वह पिंड उन पितरों को पहुँचता है और न उसके द्वारा उनकी सद्गति आदि कोई दूसरा कल्याण हो सकता है। इसलिए संहिता का यह कथन जैनधर्म के विरुद्ध है। इसी प्रकार कुल-देवताओं का तर्पण-विषयक कथन भी जैनधर्म के विरुद्ध है, जिसे ग्रन्थकर्ता ने इसी खण्ड के पहले अध्याय में दिया है। यथा—

“वामहस्तपयः पात्राज्जलमग्नकरांजलौ।
कृत्वान्नमृतीकृत्य तर्पयेत्कुलदेवताः॥९७॥

३६. लेखक का विचार है कि शुद्धि तत्त्व मीमांसा नाम का एक विस्तृत लेख लिखा जाये और उसके द्वारा इस विषय पर प्रकाश डाला जाये। अवसर मिलने पर उसके लिए प्रयत्न किया जायेगा।

ओम् ह्रीं ओम् वं हूँ पयः इदमन्नममृतं भवतु स्वाहा ।

अन्नेन घृतसिक्तेन नमस्कारेण वै भुवि ।

त्रिस्र एवाहुतीर्दद्याद्भोजनादौ तु दक्षिणे॥१८॥

यह कथन भोजन-समय का है अर्थात् भोजन के लिए गोबर का चतुष्कोणादि मंडल बनाकर बैठने के बाद का यह विधान है इसमें लिखा है कि “भोजन से पहले, बायें हाथ के जलपात्र से अंजलि में जल लेकर और उपर्युक्त मंत्र पढ़कर, अन्न का अमृतीकरण करे। और फिर उस घृतमिश्रित अन्न से कुल-देवताओं का इस प्रकार से तर्पण करे कि उस अन्न से तीन आहुतियों दक्षिण की ओर पृथ्वी पर छोड़े।” इसके बाद ‘आपोऽशन’ का विधान है। अस्तु, यह सब कथन भी हिन्दूधर्म का कथन है और उन्हीं के धर्मग्रन्थों से लिया गया मालूम होता है। जैन सिद्धान्त के अनुसार तर्पण का अन्नजल पितरों तथा देवताओं को नहीं पहुँच सकता और न उससे उनकी कोई तृप्ति होती है। हिन्दू धर्म में तर्पण का कैसा सिद्धान्त है? कैसी कैसी विचित्र कल्पनायें हैं? जैनधर्म के सिद्धान्तों से उनका कहाँ तक मेल है? वे कितनी असंगत और विभिन्न हैं? और किस प्रकार से कुछ कपट वेषधारी निर्बल आत्माओं ने उन्हें जैन समाज में प्रचलित करना चाहा है? इन सब बातों का कुछ विशेष परिचय पाने के लिए पाठकों को ‘जिनसेन त्रिवर्णाचार’ की ३७ परीक्षा का लेख देखना चाहिए!

दन्तधावन का फल नरक

(११) संहिता के पहले अध्याय में, दन्तधावन का वर्णन करते हुए एक पद्य इस प्रकार से दिया है—

“सहस्रांशावनुदिते यः कुर्याद्वन्तधावनम् ।

स पापी नरकं याति सर्वजीवदयातिगः॥३८॥

इसमें लिखा है कि “जो मनुष्य सूर्योदय से पहले दन्तधावन करता है वह पापी है, सर्व जीवों के प्रति निर्दयी है और नरक जायेगा।” परन्तु उसने पाप का कौनसा विशेष कार्य किया? कैसे सर्व जीवों के प्रति उसका निर्दयत्व प्रमाणित हुआ? और जैनधर्म के किस सिद्धान्त के अनुसार उसे नरक जाना होगा? इन सब बातों का उक्त पद्य से कुछ भी बोध नहीं होता। आगे पीछे के पद्य भी इस विषय में मौन हैं और कुछ उत्तर नहीं देते। जैन-सिद्धान्तों को बहुत कुछ टटोला गया। कर्मफिलॉसोफी का बहुतेरा मंथन किया गया। परन्तु ऐसा कोई सिद्धान्त अर्थात् कर्मप्रवृत्ति का कोई नियम मेरे देखने में नहीं आया जिससे बेचारे प्रातःकाल उठकर दन्तधावन करने वाले को नरक भेजा जाये। हाँ, इस ढूँढ खोज में, स्मृतिरत्नाकर से, हिन्दूधर्म का एक वाक्य जरूर मिला है, जिसमें उपवास के दिन दन्तधावन करने वाले को नरक की कड़ी सजा दी गई है। और इतने पर भी संतोष नहीं किया गया बल्कि उसे चारों युगों में व्याघ्र का शिकार भी बनाया गया है। यथा—

३७. यह लेख जैनहितैषीकी १० वें वर्ष की फायल में छपा है।

“उपवासदिने राजन् दन्तधावनकृन्नरः।

स घोरं नरकं याति व्याघ्रभक्षश्चतुर्युगम्॥ इति नारदः।

बहुत संभव है कि ग्रन्थकर्ता ने हिन्दूधर्म के किसी ऐसे ही वाक्य का अनुसरण किया हो। अथवा जरूरत बिना जरूरत उसे कुछ परिवर्तन करके रखा हो। परन्तु कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं कि संहिता का उक्त वाक्य सैद्धान्तिक दृष्टि से जैनधर्म के बिल्कुल विरुद्ध है।

अद्भुत न्याय

(१२) पहले खण्ड के तीसरे अध्याय में एक स्थान पर ये दो पद्य पाये जाते हैं—

दंडोऽदंडेषु देयस्तु यशोघ्नो दुरिताकरः।

परत्र नरकं याति दाता भूपः कुटुम्बयुक्॥२४८॥

अदंड्यदंडनं राजा कुर्वन्दङ्गानदंडयन्।

लोके निन्दामवाप्नोति परत्र नरकं व्रजेत्॥२४९॥

इन दोनों पद्यों में निरपराधी को दंड देने वाले राजा को और दूसरे पद्य में अपराधी को छोड़ देने वाले अर्थात् क्षमा कर देने वाले राजा को भी नरक का पात्र ठहराया है। लिखा है कि इस लोक में उसकी निन्दा होती है जो प्रायः सत्य है और मरकर परलोक में वह नरक गति को जाता है। नरक गति का यह फर्मान इस विषय का कोई फाइनल आर्डर (अंतिम फैसला) हो सकता है या नहीं? अथवा यों कहिए कि वह नियम से नरक गति जायेगा या नहीं? यह बात अभी विवादास्पद है। जैन सिद्धान्त की दृष्टि से यदि किसी निरपराधी को दंड मिल जाये अथवा कोई अपराधी दंड से छूट जाये या छोड़ दिया जाये तो सिर्फ इतने कृत्य से ही कोई राजा नरक का पात्र नहीं बन जाता। उसके लिए और भी अनेक बातों की जरूरत रहती है। परन्तु मनु का ऐसा विधान जरूर पाया जाता है। यथा—

“अदंड्यान्दंडयन् राजा दंड्याश्चैवाप्यदंडयन्।

अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥८-१२८॥

यह पद्य ऊपर के दूसरे पद्य नं० २४९ से बहुत कुछ मिलता जुलता है, और दोनों का विषय भी एक है। आश्चर्य नहीं कि ऊपर का वह पद्य इसी पद्य पर से बनाया गया हो। परन्तु इन सब प्रासंगिक बातों को छोड़िए, और खास पहले पद्य नं० २४८ के ‘कुटुम्बयुक्’ पद पर ध्यान दीजिए, जिसका अर्थ होता है कि वह राजा कुटुम्ब-सहित नरक जाता है। क्यों? कुटुम्बियों ने क्या कोई अपराध किया है जिसके लिए उन्हें नरक भेजा जाये? चाहे उन बेचारों को राजा के कृत्यों की खबर तक भी न हो, वे उसके उन कार्यों में सहायक और अनुमोदक भी न हों और चाहे राजा के उस आचरण को बुरा ही समझते हों, परन्तु फिर भी उन सबको नरक जाना होगा! यह कहाँ का न्याय और इंसाफ है!! जैनधर्म की कर्म फिलॉसोफी के अनुसार कुटुम्ब का प्रत्येक व्यक्ति अपने ही कृत्यों का उत्तरदायी और अपने ही उपार्जन किये हुए कर्मों के फल का भोक्ता है। ऐसी हालत में ऊपर का सिद्धान्त कदापि जैनधर्म का सिद्धान्त नहीं हो सकता। अस्तु, इसी प्रकार का एक कथन दायभाग नाम

के अध्याय में भी पाया जाता है। यथा—

“दत्तं चतुर्विधं द्रव्यं नैव गृह्णन्ति चोत्तमाः।

अन्यथा सकुटुम्बास्ते प्रयान्ति नरकं ततः॥७१॥

इसमें लिखा है कि ‘उत्तम पुरुष दिये हुए चार प्रकार के द्रव्य को वापस नहीं लेते। और यदि ऐसा करते हैं तो वे उसके कारण कुटुम्ब सहित नरक में जाते हैं।’ ऐसे अटकलपच्ची और अव्यवस्थित वाक्य कदापि केवली या श्रुतकेवली के वचन नहीं हो सकते। उनके वाक्य बहुत ही जँचे और तुले होने चाहिए। परन्तु ग्रन्थकर्ता इन्हें ‘उपासकाध्ययन’ से उद्धृत करके लिखना बयान करता है, जो द्वादशांगश्रुत का सातवाँ अंग कहलाता है! पाठक सोचें, कि ग्रन्थकर्ता महाशय कितने सत्य वक्ता है!

कन्याओं पर आपत्ति

(१३) दूसरे खण्ड के ‘लक्षण’ नामक ३७वें अध्याय में, स्त्रियों के कुलक्षणों का वर्णन करते हुए, लिखा है कि ‘जिस कन्या का नाम किसी नदी, देवी, कुल, आम्नाय, तीर्थ या वृक्ष के नाम पर होवे उसका मुख नहीं देखना चाहिए। यथा—

नदीदेवीकुलाम्नायतीर्थवृक्षसुनामतः

।

एतन्नामा च या कन्या तन्मुखं नावलोकयेत्॥१२०॥

यह वचन कितना निष्ठुर है! कितना धर्मशून्य है! और इसके द्वारा कन्याओं पर कितनी आपत्ति डालने का आयोजन किया गया है, इसका विचार पाठक स्वयं कर सकते हैं। समझ में नहीं आता कि किस आधार पर यह आज्ञा प्रचारित की गई है? और लक्षण-शास्त्र से इस कथन का क्या सम्बन्ध है? क्या पैदा होते समय कन्या के मस्तकादिक किसी अंगविशेष पर उसका कोई नाम खुदा हुआ होता है, जिससे अशुभ या शुभ नाम के कारण वह भयंकरी समझ ली जाये? और लोगों को उससे अपना मुँह छिपाने, आँखें बन्द करने या उसे कहीं प्रवासित करने की जरूरत पैदा हो? जब ऐसा कुछ भी न होकर स्वयं माता-पिताओं के द्वारा अपनी इच्छानुसार कन्याओं का नाम रखा जाता है तो फिर उसमें उन बेचारी अबलाओं का क्या दोष है, जिससे वे अदर्शनीय और अनवलोकनीय समझी जायें? जिन पाठकों को उस कपटी साधु का उपाख्यान याद है, जिसने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए अपनी पाशविक इच्छा को पूरा करने के अभिप्राय से एक सर्वांग सुन्दरी कन्या को कुलक्षणा और अदर्शनीया कहकर उसे उसके पिता द्वारा मंजूषे में बन्द कराकर नदी में बहाया था, वे इस बात का अनुभव कर सकते हैं कि समय-समय पर इस प्रकार के निराधार और निर्हेतुक वचन ऐसे ही स्वार्थ-साधुओं द्वारा भूमंडल पर प्रचारित हुए हैं। मनुष्यों को विवेक से काम लेना चाहिए और किसी के कहने सुनने या धोखे में नहीं आना चाहिए।

कूटोपदेश और मायाजाल

(१४) तीसरे खण्ड के ‘प्रतिष्ठा क्रम’ नामक दूसरे अध्याय में, गुरु के उपदेशानुसार कार्य करने का विधान करते हुए लिखा है कि—

“यो न मन्येत तद्वाक्यं सो मन्येत न चार्हतम्।

जैनधर्मबहिर्भूतः प्राप्नुयान्नारकीं गतिं॥८८॥”

अर्थात्—जो गुरु के वचन को नहीं मानता वह अर्हन्त के वचनों को नहीं मानता। उसे जैनधर्म से बहिर्भूत समझना चाहिए और वह मरकर नरक गति को प्राप्त होगा। नरक गति का यह फर्मान भी बड़ा ही विलक्षण है! इसके अनुसार जो लोग जैनधर्म से बहिर्भूत हैं अर्थात् अजैनी हैं उन सबको नरक जाना पड़ेगा! साथ ही, जो जैनी हैं और जैन गुरु के पदवीधारी गुरु के उल्टे-सीधे सभी वचनों को नहीं मानते, किसी को मान लेते हैं और किसी को अमान्य कर देते हैं उन सबको भी नरक जाना होगा! कैसा कूटोपदेश है! स्वार्थ रक्षा की कैसी विचित्र युक्ति है! समाज में कितनी अन्धश्रद्धा फैलाने वाला है! धर्मगुरुओं स्वार्थसाधुओं कपट वेषधारियों के अन्याय और अत्याचार का कितना उत्पादक और पोषक है। साथ ही, जैनियों के तत्त्वार्थसूत्र में दिये हुए नरकायु के कारण विषयक सूत्र से ‘बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः’ इस वाक्य से इसका कहाँ तक सम्बन्ध है? इन सब बातों को विज्ञ पाठक विचार सकते हैं। समझ में नहीं आता कि जैन गुरु के किसी वचन को न मानने से ही किस प्रकार कोई जैनी अर्हन्त के वचनों का मानने वाला नहीं रहता? क्या सभी जैन गुरु पूर्णज्ञानी और वीतराग होते हैं! क्या उनमें कोई स्वार्थसाधु, कपट वेषधारी, निर्बलात्मा और कदाचारी नहीं होता? और क्या जिन गुरुओं के कृत्यों की यह समालोचना (परीक्षा) हो रही है, वे जैन गुरु नहीं थे? यदि ऐसा कोई नियम नहीं है बल्कि वे अल्पज्ञानी, रागी द्वेषी आदि सभी कुछ होते हैं और जिनके कृत्यों की यह समालोचना हो रही है, वे भी जैन गुरु कहलाते थे, तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि जो गुरु के वचन को नहीं मानता वह अर्हन्त के वचनों को भी नहीं मानता? और उसे जैनधर्म से बहिर्भूत खारिज अजैनी समझना चाहिए? मालूम होता है कि यह सब भोले जीवों को ठगने के लिए कपटी साधुओं का मायाजाल है। उनके कार्यों में कोई बाधा न डाल सके, उनकी काली कृतियों पर, उनके अत्याचार दुराचारों पर कोई आक्षेप न कर सके और समाज में उनकी उल्टी-सीधी सभी बातें प्रचलित हो जायें, इन्हीं सब बातों के लिए यह बंध बांधा गया है। आगे साफ लिख दिया है कि ‘तदाज्ञाकारको मर्त्यो न दुष्यति विधौ पुनः’— गुरु की आज्ञा से काम करने वाले को कोई दोष नहीं लगता। कितना बड़ा आश्वासन है। ऐसे ही मिथ्या आश्वासन के द्वारा जैन समाज में मिथ्यात्व का प्रचार हुआ है। अनेक प्रकार की पूजायें देवी देवताओं की उपासनायें जारी हुई हैं, जिनका बहुत-सा कथन इस ग्रन्थ में भी पाया जाता है। इसी प्रतिष्ठाध्याय में अनेक ऐसे कृत्यों की सूचना की गई है जो जैनधर्म के विरुद्ध है, जैन सिद्धान्त से जिनका कोई सम्बन्ध नहीं है और जिनका सर्व साधारण के सन्मुख स्वतंत्र विवेचन प्रकट किये जाने की जरूरत है। यहाँ इस अध्याय के सम्बन्ध में सिर्फ इतना और बतलाया जाता है कि, इसमें मुनि को, साधारण मुनि को नहीं बल्कि गणि और गच्छाधिपति को प्रतिष्ठा का अधिकारी बतलाया है। उसके द्वारा प्रतिष्ठित किए हुए बिम्बादिक के पूजन सेवन का उपदेश दिया है और यहाँ तक लिख दिया है कि जो प्रतिष्ठा ऐसे महामुनि द्वारा न हुई हो उसे सम्यक् तथा सातिशयवती प्रतिष्ठा ही न

समझनी चाहिए और इसलिए उक्त प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित हुई मूर्तियाँ अप्रतिष्ठित ही मानी जानी चाहिए।
यथा—

“सामायिकादिसंयुक्तः प्रभुः सूरिर्विचक्षणः।
देशमान्यो राजमान्यः गणी गच्छाधिपो भवेत्॥९२॥
बिम्बं प्रतिष्ठामिन्द्रत्वं तेन संस्कारितं भजेत्।
नो चेत्प्रतिष्ठा न भवेत्सम्यक् सातिशयान्विता॥९३॥

परन्तु इन्द्रनन्दि, वसुनन्दि और एकसंधि आदि विद्वानों ने, पूजासारादि ग्रन्थों में, महाव्रती मुनि के लिए प्रतिष्ठाचार्य होने का सख्त निषेध किया है। और अणुव्रती के लिए चाहे वह स्वदारसंतोषी हो या ब्रह्मचारी, उसका विधान किया है। ऐसी हालत में, जैनी लोग कौनसे गुरु की बात मानें, यह बड़ी कठिन समस्या है! जिस गुरु की बात को वे नहीं मानेंगे उसी की आज्ञा-उल्लंघन के पाप द्वारा उन्हें नरक जाना पड़ेगा। इसलिए जैनियों को सावधान होकर अपने बचने का कोई उपाय करना चाहिए।

अजैन देवताओं की पूजा

(२५) भद्रबाहुसंहिता के तीसरे खण्ड में ‘ऋषिपुत्रिका’ नामक चौथे अध्याय में, देवताओं की मूर्तियों के फूटने-टूटने आदिरूप उत्पातों के फल का वर्णन करते हुए, ‘अथान्यदेवतोत्पातमाह’ यह वाक्य देकर लिखा है कि ‘भंग होने पर कुबेर की प्रतिमा वैश्यों का, स्कंद की प्रतिमा भोज्यों का, नंदिवृषभ (नादिया बैल) की प्रतिमा कायस्थों का नाश करती है, इन्द्र की प्रतिमा युद्ध को उपस्थित करती है, कामदेव की प्रतिमा भोगियों का, कृष्ण की प्रतिमा सर्व लोक का, अर्हन्त-सिद्ध तथा बुद्धदेव की प्रतिमायें साधुओं का नाश करती हैं, कात्यायनी, चंडिका, केशी, काली की मूर्तियाँ सर्व स्त्रियों का, पार्वती, दुर्गा, सरस्वती, त्रिपुरा की मूर्तियाँ बालकों का, वराही की मूर्ति हाथियों का घात करती है, नागिनी की मूर्ति स्त्रियों के गर्भों का और लक्ष्मी तथा शांकभरी देवी की मूर्तियाँ नगरों का विनाश करती हैं। इसी प्रकार यदि शिवलिंग फूट जाये तो उससे मंत्री का भेद होता है, उसमें से अग्निज्वाला निकलने पर देश का नाश समझना चाहिए, और चर्बी, तेल तथा रुधिर की धारायें निकलने पर वे किसी प्रधान पुरुष के रोग का कारण होती हैं। यदि इन देवताओं की भक्तिभावपूर्वक पूजा नहीं की जाती है तो ये सभी उत्पात तीन महीने के भीतर अपना-अपना रंग दिखलाते हैं अर्थात् फल देते हैं।’ इस कथन के आदि और अंत की दो-दो गाथायें नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं—

“वणियाणं च कुबेरो खंदो भोयाण णासणं कुणदि।
कायत्थाणं वसहो इंदो रणं णिवेदेदि॥८२॥
भोगवदीण य कामो किण्हो पुण सव्वलोयणासयो।
अरहंतसिद्धबुद्धा जदीण णासं पकुव्वंति॥८३॥
‘फुडिदो मंतियभेदं अग्गीजालेण देसणासयो।

वसतेलरुहिरधारा कुणंति रोगं णरवरस्स॥८७॥
 मासेहिं तीयेहिं रूवं दंसंति अप्पणो सव्वे।
 जदि णवि कीरदि पूजा देवाणं भक्तिरायेण॥८८॥”

इसके आगे उत्पातों की शांति के लिए उक्त कुबेरादिक देवताओं के पूजन का विधान करते हुए लिखा है कि ‘ऐसी उत्पातावस्था में ये सब देव गंध, माल्य, दीप, धूप और अनेक प्रकार के बलिदानों से पूजा किये जाने पर संतुष्ट हो जाते हैं, शांति को देते हैं और पुष्टि प्रदान करते हैं।’ साथ ही यह भी लिखा है कि, ‘चूँकि अपमानित देवता मनुष्यों का नाश करते हैं और पूजित देवता उनकी सेवा करते हैं, इसलिए इन देवताओं की नित्य ही पूजा करना श्रेष्ठ है। इस पूजा के कारण न तो देवता किसी का नाश करते हैं, न रोगों को उत्पन्न करते हैं और न किसी को दुःख या संताप देते हैं। बल्कि अतिविरुद्ध देवता भी शांत हो जाते हैं।’ यथा—

“मल्लेहिं गंधधूवेहिं पूजिदा बलिपयारदीवेहिं।
 तूसंति तत्थ देवा संतिं पुट्ठिं णिवेदिति॥८९॥
 अवमाणिया य णासं करंति तह पूजिदा य पूजंति।
 देवाण णिच्चपूजा तम्हा पुण सोहणा भणिया॥९०॥
 ण य कुव्वंति विणासं ण य रोगं णेव दुक्खसंतावं।
 देवावि अइविरुद्धा हवंति पुण पुज्जिदा संता॥९१॥

इसके बाद कुछ दूसरे प्रकार के उत्पातों का वर्णन देकर, सर्व प्रकार के उत्पातों की शांति के लिए अर्हन्त और सिद्ध की पूजा के साथ हरि-हर-ब्रह्मादिक देवों के पूजन का भी विधान किया है। साथ ही, ब्राह्मण देवताओं को दक्षिणा देने अर्थात् सोना, गौ और भूमि प्रदान करने तथा सम्पूर्ण ब्राह्मणों और श्रेष्ठ मुनियों आदि को भोजन खिलाने का भी उपदेश दिया है। और अंत में लिखा है कि उत्पात शांति के लिए यह विधि हमेशा करने योग्य है। यथा—

“अरहंतसिद्धपूजा कायव्वा सुद्धभत्तीए॥११०॥
 हरिहरविरंचिआईदेवाण य दहियदुद्धणहवणंपि।
 पच्छावलिं च सिरिखंडेण य लेवधूपदीवआदीहिं॥१११॥
 जं किंचिवि उप्पादं अण्णं विग्घं च तत्थ णासेइ।
 दक्खिणदेज्जसुवण्णं गावी भूमीउ विप्पदेवाणं॥११२॥
 भुंजावेज्जसुसव्वे बहो तवसीलसव्वलोयस्स।
 णिस्साव्वय यइ सारय एस विही सव्वकालस्स॥११३॥

इस तरह पर, बहुत स्पष्ट शब्दों में, अजैन देवताओं के पूजन का यह विधान इस ग्रन्थ में पाया जाता है। और वह भी प्राकृत भाषा में, जिस भाषा में बने हुए ग्रन्थ को आजकल की साधारण जैन

जनता कुछ प्राचीन और अधिक महत्त्व का समझा करती है। इस विधान में सिर्फ उत्पातों की शांति के लिए ही हरि, हर, ब्रह्मादिक देवताओं का पूजन करना नहीं बतलाया, बल्कि नित्य पूजन न किये जाने पर कहीं वे देवता अपने को अपमानित न समझ बैठें और इसलिए कुपित होकर जैनियों में अनेक प्रकार के रोग, मरी तथा अन्य उपद्रव खड़े न कर दें, इस भय से उनका नित्य पूजन करना भी ठहराया गया है। और उसे सुन्दर श्रेष्ठ पूजा-शोभना पूजा बयान किया है। आश्चर्य है कि इतने पर भी कुछ जैन विद्वान् इस ग्रन्थ को जैन ग्रन्थ मानते हैं। जैन ग्रन्थ ही नहीं, बल्कि श्रुतकेवली का वचन स्वीकार करते हैं और जैन समाज में उसका प्रचार करना चाहते हैं! अन्धी श्रद्धा की भी हद हो गई!! यहाँ पर मुझे उस मनुष्य की अवस्था याद आती है जो अपने घर की चिट्ठी में किसी कौतुकी द्वारा यह लिखा हुआ देखकर, कि तुम्हारी स्त्री विधवा हो गई है, फूट फूटकर रोने लगा था और लोगों के बहुत कुछ समझाने बुझाने पर उसने यह उत्तर दिया था कि 'यह तो मैं भी समझता हूँ कि मेरे जीवित रहते हुए मेरी स्त्री विधवा कैसे हो सकती है। परन्तु चिट्ठी में ऐसा ही लिखा है और जो नौकर उस चिट्ठी को लाया है वह बड़ा विश्वासपात्र है, इसलिए वह जरूर विधवा हो गई है, इसमें कोई संदेह नहीं, और यह कहकर वह फिर से दुहत्थड़ मारकर रोने लगा था! जैनियों की हालत भी आजकल कुछ ऐसी ही विचित्र मालूम होती है। किसी ग्रन्थ में जैन-सिद्धान्त, जैनधर्म और जैन-नीति के प्रत्यक्ष विरुद्ध कथनों को देखते हुए भी, यह ग्रन्थ हमारे शास्त्र भण्डार से निकला है और एक प्राचीन जैनाचार्य का उस पर नाम लिखा हुआ है, बस इतने पर से ही, बिना किसी जाँच और परीक्षा के, उस ग्रन्थ को मानने मनाने के लिए तैयार हो जाते हैं, उसे साष्टांग प्रणाम करने लगते हैं और उस पर अमल भी शुरू कर देते हैं! यह नहीं सोचते कि जाली ग्रन्थ भी हुआ करते हैं, वे शास्त्र भण्डारों में भी पहुँच जाया करते हैं और इसलिए हमें "लकीर के फकीर न बनकर विवेक से काम लेना चाहिए।" पाठक सोचें, इस अंधेर का भी कहीं कुछ ठिकाना है! क्या जैन गुरुओं की, चाहे वे दिगम्बर हों या श्वेताम्बर, ऐसी आज्ञायें भी जैनियों के लिए माने जाने के योग्य हैं? क्या इन आज्ञाओं का पालन करने से जैनियों को कोई दोष नहीं लगेगा? क्या उनका श्रद्धान और आचरण बिल्कुल निर्मल ही बना रहेगा? और क्या इनके उल्लंघन से भी उन्हें नरक जाना होगा? ये सब बातें बड़ी ही चक्कर में डालने वाली हैं। और इसलिए जैनियों को बहुत सावधान होने की जरूरत है। यहाँ पाठकों पर यह भी प्रकट कर देना उचित है कि इस अध्याय के शुरू में भद्रबाहु मुनि का नामोल्लेखपूर्वक यह प्रतिज्ञावाक्य भी दिया हुआ है—

अह खलु तो रिसिपुत्तियणाम णिमित्तं सूप्पाज्झयणा।

पवक्खइस्सामि सयं सुभइबाहू मुणिवरोहं॥३॥

इसमें लिखा है कि 'मैं भद्रबाहु मुनिवर निश्चयपूर्वक उत्पादाध्ययन नाम के पूर्व से स्वयं ही इस 'ऋषिपुत्रिका' नाम के निमित्ताध्याय का वर्णन करूँगा।' इससे यह सूचित किया गया है कि यह अध्याय खास द्वादशांग वाणी से निकला हुआ है, उसके 'उत्पाद' नाम के एक पूर्व का अंग है और उसे भद्रबाहु स्वामी ने खास अपने आप ही रचा है, अपने किसी शिष्य या चेले से भी नहीं बनवाया

और इसलिए वह बड़ी ही पूज्य दृष्टि से देखे जाने के योग्य है! निःसंदेह ऐसे वाक्यों ने सर्व साधारण को बहुत बड़े धोखे में डाला है। यह सब कपटी साधुओं का कृत्य है, जिन्हें कूट बोलते हुए जरा भी लज्जा नहीं आती और जो अपने स्वार्थ के सामने दूसरों के हानि-लाभ को कुछ नहीं समझते।

ग्रहादिक देवता

(१६) इसी प्रकार से दूसरे अध्यायों में और खास कर तीसरे खण्ड के 'शांति' नामक दसवें अध्याय में रोग, मरी, दुर्भिक्ष और उत्पातादिक की शांति के लिए ग्रह-भूत-पिशाच-योगिनी-यक्षादिक तथा सर्पादिक और भी बहुत-से देवताओं की पूजा का विधान किया है, उन्हें शान्ति का कर्ता बतलाया है और उनसे तरह-तरह की प्रार्थनायें की गई हैं, जिन सबका कथन यहाँ विस्तार के भय से छोड़ा जाता है। सिर्फ ग्रहों के पूजन-सम्बन्ध में दो श्लोक नमूने के तौर पर उद्धृत किये जाते हैं जिनमें लिखा है कि "ग्रहों का पूजन करने के बाद उन्हें बलि देने से, जिनेन्द्र का अभिषेक करने से और जैन महामुनियों के संघ को दान देने से, नवग्रह तृप्त होते हैं और तृप्त होकर उन लोगों पर अनुग्रह करते हैं जो ग्रहों से पीड़ित हैं। साथ ही, अपने किये हुए रोगों को दूर कर देते हैं।" यथा—

“पूजान्ते बलिदानेन जिनेन्द्राभिषेकेन च।

महाश्रमणसंघस्य दानेन विहितेन च॥२०९॥

नवग्रहास्ते तृप्यन्ति ग्रहार्ताश्चानुगृह्यन्ते।

शमयन्ति रोगांस्तान्स्वस्थान्स्वात्मना कृतान्॥२१०॥

इससे यह सूचित किया गया है कि सूर्यादिक नव देवता अपनी इच्छा से लोगों को कष्ट देते हैं और उनके अंगों में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं। जब वे पूजन और बलिदानादिक से संतुष्ट हो जाते हैं, तब स्वयं ही अपनी माया को समेट लेते हैं और इच्छापूर्वक लोगों पर अनुग्रह करने लगते हैं। दूसरे देवताओं के पूजन-सम्बन्ध में भी प्रायः इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया गया है। इससे मालूम होता है कि यह सब पूजन-विधान जैन-सिद्धान्तों के विरुद्ध है, मिथ्यात्वादिक को पुष्ट करके जैनियों को उनके आदर्श से गिराने वाला है और इसलिए कदापि इसे जैनधर्म की शिक्षा नहीं कह सकते। स्वामिकार्तिकेय लिखते हैं कि 'जो मनुष्य ग्रह, भूत, पिशाच, योगिनी और यक्षों को अपने रक्षक मानता है और इसलिए पूजनादिक द्वारा उनके शरण में प्राप्त होता है, समझना चाहिए कि वह मूढ़ है और उसके तीव्र मिथ्यात्व का उदय है। यथा—

“एवं पेच्छन्तो बिहु गहभयपिसायजोड़णीजक्खं।

सरणं भण्णइ मूढो सुगाढमिच्छत्तभावादो॥२७॥

इसी प्रकार के और भी बहुत से लेखों से, जो दूसरे ग्रन्थों में पाये जाते हैं, स्पष्ट है कि यह सब पूजन-विधान जैनधर्म की शिक्षा न होकर दूसरे धर्मों से उधार लिया गया है।

गुरु मंत्र या गुप्त मंत्र

(१७) उधार लेने का एक गुरु मंत्र या गुप्त मंत्र भी इस ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में पाया जाता

है और वह इस प्रकार है—

“शान्तिनाथमनुस्मृत्य येन केन प्रकाशितम्।
दुर्भिक्षमारीशान्त्यर्थं विदध्यात्सुविधानकम्॥२२५॥

इसमें लिखा है कि दुर्भिक्ष और मरी (उपलक्षण से रोग तथा अन्य उत्पातादिक) की शांति के लिए जिस किसी भी व्यक्ति ने कोई अच्छा विधान प्रकाशित किया हो वह “शान्तिनाथ को स्मरण करके अर्थात् शान्तिनाथ की पूजा उसके साथ जोड़ करके जैनियों को भी कर लेना चाहिए।” इससे साफ तौर पर अजैन विधानों को जैन बनाने की खुली आज्ञा और विधि पाई जाती है। इसी मंत्र के आधार पर, मालूम होता है कि, ग्रन्थकर्ता ने यह सब पूजन-विधान दूसरे धर्मों से उधार लेकर यहाँ रखा है। शायद इसी मंत्र की शिक्षा से शिक्षित होकर ही उसने दूसरे बहुत से प्रकरणों को भी, जिनका परिचय पहले लेखों में दिया गया है, अजैन ग्रन्थों से उठाकर इस संहिता में शामिल किया हो। और इस तरह पर उन्हें भद्रबाहु के वचन प्रकट करके जैन का कथन बनाया हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि, यह मंत्र बहुत बड़े काम का मंत्र है। देखने में छोटा मालूम होने पर भी इसका प्रकाश दूर तक फैलता है और यह अनेक बड़े बड़े विषयों पर भी अपना प्रकाश डालता है। इसलिए इसे ३८ महामंत्र कहना चाहिए। नहीं मालूम इस महामंत्र के प्रभाव से समय-समय पर कितनी कथायें, कितने व्रत, कितने नियम, कितने विधान, कितने स्तोत्र, कितनी प्रार्थनायें, कितने पूजा-पाठ, कितने मंत्र और कितने सिद्धान्त तक जैन-साहित्य में प्रविष्ट हुए हैं, जिन सबकी जाँच और परीक्षा होने की जरूरत है। जाँच से पाठकों को मालूम होगा कि संसार में धर्मों की पारस्परिक स्पर्धा और एक-दूसरे की देखा-देखी आदि कारणों से कितने काम हो जाते हैं और फिर वे कैसे आप्तवाक्य का रूप धारण कर लेते हैं।

शान्ति विधान और झूठा आश्वासन

(१८) इस संहिता के तीसरे खण्ड में ‘शान्ति’ नामक १०वें अध्याय में रोग, मरी और शत्रुओं आदि की शांति के लिए एक शान्तिविधान का वर्णन देकर लिखा है कि, ‘जो कोई राष्ट्र, देश, पुर, ग्राम, खेट, कर्वट, पत्तन, मठ, घोष, संवाह, वेला, द्रोणमुखादिक तथा घर, सभा, देवमंदिर, बावड़ी, नदी, कुआँ और तालाब इस शांति होम के साथ स्थापन किये जाते हैं, वे सब निश्चय से उस वक्त तक कायम रहेंगे जब तक कि आकाश में चंद्रमा स्थित है। अर्थात् वे हमेशा के लिए, अमर हो जायेंगे, उनका कभी नाश नहीं होगा। यथा—

“राष्ट्रदेशपुरग्रामखेटकर्वटपत्तनं ।
मठं च घोषसंवाहवेलाद्रोणमुखानि च॥११५॥
इत्यादीनां गृहाणां च सभानां देववेश्वनाम्।
वापीकूपतटाकानां सन्नदीनां तथैव च॥११६॥

३८. शायद इसीलिए ग्रन्थकर्ता ने, अपने अन्तिम वक्तव्य में, इस संहिता का ‘महामंत्रयुता’ ऐसा विशेषण दिया हो?

**शांतिहोमं पुरस्कृत्य स्थापयेद्बर्धमुत्तमं ।
आचन्द्रस्थायि तत्सर्वं भवत्येव कृते सति॥११७॥**

इस कथन में कितना अधिक आश्वासन और प्रलोभन भरा हुआ है, यह बतलाने की यहाँ जरूरत नहीं है। परन्तु इतना जरूर कहना होगा कि यह सब कथन निरी गप्प के सिवाय और कुछ भी नहीं है। ऐसा कोई भी विधान नहीं हो सकता जिससे कोई कृत्रिम पदार्थ अपनी अवस्था विशेष में हमेशा के लिए स्थित रह सके। नहीं मालूम कितने मंदिर, मकान, कुएँ, बावड़ी, और नगर ग्रामादिक इस शांतिविधान के साथ स्थापित हुए होंगे जिनका आज निशान भी नहीं है और जो मौजूद हैं उनका भी एक दिन निशान मिट जायेगा। ऐसी हालत में संहिता का उपर्युक्त कथन बिल्कुल असंभव मालूम होता है और उसके द्वारा लोगों को व्यर्थ का झूठा आश्वासन दिया गया है। श्रुतकेवली जैसे विद्वानों का कदापि ऐसा निःसार और गौरव-शून्य वचन नहीं हो सकता। अस्तु, जिस शांतिविधान का इतना बड़ा माहात्म्य वर्णन किया गया है और जिसके विषय में लिखा है कि वह अकालमृत्यु, शत्रु, रोग और अनेक प्रकार की मरी तक को दूर कर देने वाला है उसका परिचय पाने के लिए पाठक जरूर उत्कंठित होंगे। इसलिए यहाँ संक्षेप में उसका भी वर्णन दिया जाता है और वह यह है कि इस शांतिविधान के मुख्य तीन अंग हैं—१. शांतिभट्टारक का महाभिषेक, २. बलिदान और ३. होम। इन तीनों क्रियाओं के वर्णन में होममंडप, होमकुंड, वेदी, गंधकुटी और स्नानमंडप आदि के आकार-विस्तार, शोभा-संस्कार तथा रचना विशेष का विस्तृत वर्णन देकर लिखा है कि गंधकुटी में शांतिभट्टारक का, उसके सामने सरस्वती का और दाहने बायें यक्ष-यक्षी का स्थापन किया जाये और फिर, अभिषेक से पहले, भगवान् शांतिनाथ की पूजा करना ठहराया है। इस पूजन में जल चंदनादिक के सिवाय लोटा, दर्पण, छत्र, पालकी, ध्वजा, चँवर, रकेवी, कलश, व्यंजन, स्तन और स्वर्ण तथा मोतियों की मालाओं आदि से भी पूजा करने का विधान किया है। अर्थात् ये चीजें भी, इस शांतिविधान में, भगवान् को अर्पण करनी चाहिए, ऐसा लिखा है। यथा—

भृंगारमुकुरच्छत्रपालिकाध्वजचामरैः ।

घटैः पंचमहाशब्दकलशव्यंजनाचलैः॥५६॥

सद्वंधचूर्णैर्मणिभिः स्वर्णमौक्तिकदामभिः ।

वेणुवीणादिवादित्रैः गीतैर्नृत्यैश्च मंगलैः॥५७॥

भगवंतं समभ्यर्च्य शांतिभट्टारकं ततः ।

तत्पादाम्बुरुहोपान्ते शांतिधारां निपातयेत्॥५८॥

ऊपर के तीसरे पद्य में यह भी बतलाया गया है कि पूजन के बाद शांतिनाथ के चरण कमलों के निकट शांतिधारा छोड़नी चाहिए। यही इस प्रकरण में अभिषेक का विधान है जिसको ‘महाभिषेक’ प्रकट किया है! इस अभिषेक के बाद ‘शान्त्यष्टक’ को और फिर ‘पुण्याहमंत्र’ को, जिसे ‘शांतिमंत्र’ भी सूचित किया है और जो केवल आशीर्वादात्मक गद्य है, पढ़ने का विधान करके लिखा है कि “गुरु

प्रसन्न चित्त^{३९} होकर भगवान् के स्नान का वह जल (जिसे भगवान् के शरीर ने छुआ भी नहीं) उस मनुष्य के ऊपर छिड़के, जिसके लिए शांतिविधान किया गया है। साथ ही उस नगर तथा ग्राम के रहने वाले दूसरे मनुष्यों, हाथी-घोड़ों, गाय-भैंसों, भेड़-बकरियों और ऊँट तथा गधों आदि अन्य प्राणियों पर भी उस जल के छिड़के जाने का विधान किया है।”

इसके बाद एक सुन्दर नवयुवक को सफेद वस्त्र तथा पुष्पमालादिक से सजाकर और उसके मस्तक पर ‘सर्वाल्लह’ नाम के किसी यक्ष की मूर्ति विराजमान करके उसे गाजेबाजे के साथ चौराहों, राजद्वारों, महाद्वारों, देवमंदिरों, अनाज के ढेरों या हाथियों के स्तंभों, स्त्रियों के निवास स्थानों, अश्वशालाओं, तीर्थों और तालाबों पर घुमाते हुए पाँच वर्ष के नैवेद्य से गंध, पुष्प, अक्षत के साथ जलधारापूर्वक बलि देने का विधान किया है। और साथ ही यह भी लिखा है कि पूजन, अभिषेक और बलिदान सम्बन्धी यह सब अनुष्ठान दिन में तीन बार करना चाहिए। इस बलिदान के पहले तीन पद्यों को छोड़कर, जो उस नवयुवक की सजावट से सम्बन्ध रखते हैं, शेष पद्य इस प्रकार हैं—

कस्यचिच्चारुरूपस्य पुंसः सद्गात्रधारिणः।

सर्वाल्लहयक्षं सोष्णीषे मूर्द्धन्यारोपयेत्ततः ॥६१॥

तत्सहायो विनिर्गच्छेद्बलिदानाय मंत्रवित्।

छत्रचामरसत्केतुशंखभेर्यादिसंपदा ॥७०॥

चतुष्पथेषु ग्रामस्य विपत्तिनस्य पुरस्य च।

राजद्वारे महाद्वार्षु देवतायतनेषु च ॥७१॥

स्तम्बेराणां च स्थानेषु तुरंगानां च धामसु।

बहुसेव्येषु तीर्थेषु चरतां सरसामपि ॥७२॥

चरुणां पंचवर्णेन गंधपुष्पाक्षतैरपि।

यथाविधि बलिं दद्याज्जलधारापुरःसरं ॥७३॥

अनुष्ठितो विधिर्योऽयं पूर्वाह्नेऽभिषवादिकः।

मध्याह्ने च प्रदोषे च तं तथैव समाचरेत् ॥७४॥

इसके बाद अर्धरात्रि के समय खूब रोशनी करके, सुगंधित धूप जलाकर और आह्वानपूर्वक शांतिनाथ का अनेक बहुमूल्य द्रव्यों से पूजन तथा वही जलधारा छोड़नेरूप अभिषेक-विधान करके शांतिमंत्र से होम करना शान्त्यष्टक पढ़ना और फिर विसर्जन करना बतलाया है। इसके बाद फिर ये पद्य दिये हैं—

३९. गुरु की प्रसन्नता सम्पादन करने के लिए इसी अध्याय में एक स्थान पर लिखा है कि जिस द्रव्य के देने से आचार्य प्रसन्नचित्त हो जाये वही उसको देना चाहिए। यथा—

द्रव्येण येन दत्तेनाचार्यः सुप्रसन्नहृदयः स्यात्। ग्रहशान्त्यन्ते दद्यात्तत्तस्मै श्रद्धया साध्यः॥२१५॥

एवं संध्यात्रये चार्धरात्रौ च दिवसस्य यः।
जिनस्नानादिहोमान्तो विधिः सम्यगनुसृतः ॥१०२॥
तं कृत्स्नमपि सोत्साहो बुधः सप्त दिनानि वा।
यद्वैकविंशतिं कुर्याद्यावदिष्टप्रसिद्धिता ॥१०३॥
साध्यः सप्त गुणोपेतः समस्तगुणशालिनः।
शांतिहोमदिनेष्वेषु सर्वेष्वप्यतिथीन् यतीन् ॥१०४॥
क्षीरेण सर्पिषा दध्ना सूपखण्डसितागुडैः।
व्यंजनैर्विविधैर्भक्ष्यैर्लड्डुकापूरिकादिभिः ॥१०५॥
स्वादुभिश्चोचमोचाम्रफनसादिफलैरपि ।
उपेतं भोजयेन्मृष्टं शुद्धं शाल्यन्नमादरात् ॥१०६॥
क्षान्तिभ्यः श्रावकेभ्यश्च श्राविकाभ्यश्च सादरः।
वितरेदोदनं योग्यं विदद्याच्चाम्बरादिकं ॥१०७॥
कुमारांश्च कुमारींश्च चतुर्विंशतिसम्मितान्।
भोजयेदनुवर्तेत दीनानथजनानपि ॥१०८॥”

इनमें लिखा है कि—“इस प्रकार तीनों संध्याओं और अर्धरात्रि के समय की, स्नान से लेकर होम पर्यन्त की, जो यह विधि कही गई है वह उत्साहपूर्वक सात दिन तक या २१ दिन तक अथवा जब तक साध्य की सिद्धि न हो तब तक करनी चाहिए। और इन सम्पूर्ण दिवसों में शांति कराने वाले को चाहिए कि अतिथियों तथा मुनियों को केला आम्रादि अनेक रसीले फलों के सिवाय दूध, दही, घी, मिठाई तथा लड्डू, पूरी आदि खूब स्वादिष्ट और तर माल खिलावे। मुनि, आर्यिकाओं, श्रावक, श्राविकाओं को चावल वितरण करे तथा वस्त्रादिक देवे। और २४ कुमार-कुमारियों को जिमाने के बाद दीनों तथा दूसरे मनुष्यों को भी भोजन करावे।” इस तरह पर यह सब शांतिहोम का विधान है जिसकी महिमा का ऊपर उल्लेख किया गया है। विपुल धन साध्य होने पर भी ग्रन्थकर्ता ने छोटे-छोटे कार्यों के लिए भी इसका प्रयोग करना बतलाया है। बल्कि यहाँ तक लिख दिया है कि जो कोई भी अशुभ होनहार का सूचक चिह्न दिखलाई दे उस सबकी शांति के लिए यह विधान करना चाहिए। यथा—

“यो यो भद्रापको (?) हेतुरशुभस्य भविष्यतः।

शांतिहोमममुं कुर्यात्तत्र तत्र यथाविधि॥११४॥

इस शांतिविधान का इतना महत्त्व क्यों वर्णन किया गया? क्यों इसके अनुष्ठान की इतनी अधिक प्रेरणा की गई? आडम्बर के सिवाय इसमें कोई वास्तविक गुण है भी या कि नहीं इन सब बातों को तो ग्रन्थकर्ता महाशय या केवली भगवान् ही जानें! परन्तु सहृदय पाठकों को, इस सम्पूर्ण कथन से, इतना जरूर मालूम हो जायेगा कि इस विधान में, जैनधर्म की शिक्षा के विरुद्ध कथनों को छोड़कर, कपटी और लोभी गुरुओं की स्वार्थ साधना का बहुत कुछ तत्त्व छिपा हुआ है।

आचार्यपद-प्रतिष्ठा

(१९) इस ग्रन्थ के तीसरे खण्ड सम्बन्धी सातवें अध्याय में, दीक्षालग्न का निरूपण करने के बाद, आचार्य पद की प्रतिष्ठा विधि का जो वर्णन दिया है उसका सार इस प्रकार है। फुट नोट्स में कुछ पद्यों का नमूना भी दिया जाता है-

“जिस नगर या ग्राम में आचार्य पद की प्रतिष्ठा-विधि की जाये, वह सिर्फ निर्मल और साफ ही नहीं बल्कि राजा के संघ से भी युक्त होना चाहिए। इस विधान के लिए प्रासुक भूमि पर सौ हाथ परिमाण का, एक क्षेत्र मण्डप के लिए ठीक करना चाहिए और उसमें दो वेदी बनानी चाहिए। ४० पहली वेदी में पाँच रंगों के चूर्ण से ‘गणधरवल्लय’ नाम का मंडल बनाया जाये, और ४१ दूसरी वेदी में शांतिमंडल की महिमा करके चक्र को नाना प्रकार के घृत-दुग्धादिमिश्रित भोजनों से संतुष्ट किया जाये। संतुष्ट करने की यह क्रिया उत्कृष्ट १२ दिन तक जारी रहनी चाहिए। और उस समय तक वहाँ प्रतिदिन कोई योगीजन शास्त्र बाँचा करे। साथ ही अभिषेकादि क्रियाओं का व्याख्यान और अनुष्ठान भी हुआ करे। जिस दिन आचार्य पद की प्रतिष्ठा की जाये उस दिन एकान्त में सारस्वत युक्त आचारांग की एक बार संघ-सहित और दूसरी बार, अपने वर्गसहित, पूजा करनी चाहिए। यदि वह मनुष्य (मुनि), जो आचार्य पद पर नियुक्त किया जाये, दूसरे गणधर का शिष्य हो तो उसका केशलोंच और आलोचनापूर्वक नामकरण संस्कार भी होना चाहिए। ४२ बारह दिन तक दीनों को दान बाँटा जाये और युवतीजन भक्तिपूर्वक मंगल गीत गावें। ४३ आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने वाले उस मनुष्य को चाहिए कि बारह दिन तक ऐसा कोई शब्द न कहे जिससे संघ में मत्सर भाव उत्पन्न हो जाये (काम बन जाने पर पीछे से भले ही कहले)। ४४ मुनियों के इस उत्सव में नाचने गाने का भी विधान किया गया है, जिसके लिए बारह पुरुषों और उनकी बारह स्त्रियों को चाहिए कि वे खूब सजधज कर इंद्र इंद्राणियों का रूप बनाकर और अपने सिरों पर कलशे रखकर भावी आचार्य के सन्मुख नाचें, गायें और पाठ पढ़ें। इसके बाद वे सब इंद्र इंद्राणियाँ मंडल को नमस्कार करें और दक्षिण ओर के मंगल द्रव्य को प्राप्त होकर तथा सात धान्यों को छूकर एक मंत्र का जाप्य करें। ४५ स्नान के लिए चाँदी सोने के रंग के चार कलशे पानी और अनेक औषधियों से भरे हुए होने चाहिए और चार ही सिंहासन होना चाहिए।

४०. कायव्वं तत्थ पुणो गणहरवल्लयस्स पंचवण्णेण। चुण्णेण य कायव्वं उद्धरणं चाह सोहिल्लं॥

४१. दुइज्जिम्मि संति मंडलमहिमा काऊण पुप्फधूवेहिं। णाणाविहभक्खेहिं य करिज्जपरितोसियं चक्कं॥

४२. वासरवारस जावदु दीणजणाणं च दिज्जे दाणं। गायइ मंगलगीयं जुवइज्जो भित्तिराएण॥

४३. जेण वयणेण संघो समच्छरो होइ तं पुणो वयणं। बारसदिवसं जावदु वज्जियदव्वं अपमत्तेण॥

४४. वारस इंदा रम्मा तावदिया चेव तेसिमबलाओ। ण्हाणादिसुद्धदेहा रत्तंभरमउडकतसोहा॥

पुंडिक्खुदंडहत्था इंदाइंदायणीउ सिरकलसा। आयरियस्स पुरत्था पढंति णाचंति गायंति॥

४५. कलसाइं चारि रूप्पय-हेमय-वण्णाइं तोयभरियाइं। दिव्वोसहिजुत्ताइं पयणहवणे होंति इत्थ जोगाइं॥

४६ सिंहासन सोना, रूपा, ताम्बा, काष्ठ और पाषाण, इसमें से चाहे किसी चीज के बने हुए हों सब आचार्य-प्रतिष्ठा के योग्य हैं, बल्कि यदि वे खूब अच्छी तरह से सजे हुए और जड़ाऊ भी हों तो भी शुद्ध और ग्राह्य हैं। ४७ एक सिंहासन के नीचे आठ पंखुड़ी का कमल भी चावलों से बनाना चाहिए। ४८ इसके बाद वह भावी आचार्य, यंत्र की पूजा प्रदक्षिणा करके, सिंहासन पर कलश डालकर और अपने गुरु से पूछकर उस सिंहासन पर बैठे। बैठ जाने पर पूर्वाचार्यों के नाम लेकर स्तुति करे। इसके बाद एक इन्द्र उस आचार्य के सन्मुख वाँचने के लिए सिद्धान्तादि शास्त्र रखे और ४९ फिर सम्पूर्ण संघ उसे वंदना करके इस बात की घोषणा करे कि 'वह गुरु जिनेन्द्र के समान हमारा स्वामी है। धर्म के लिए यह जो कुछ कराएगा (चाहे वह कैसा ही अनुचित कार्य क्यों न हो?), उसको जो कोई मुनि, आर्यिका या श्रावक नहीं मानेगा वह संघ से बाहर समझा जायेगा। ५० इस घोषणा के बाद मोतियों की माला तथा उत्तम वस्त्रादिक से शास्त्र की और गुरु के चरणों की पूजा करनी चाहिए। ५१ दूसरे दिन संघ के सुख के लिए शांतिविधान पूर्वक' (वही विधान जिसका पहले उल्लेख किया है) "महामह नाम का बड़ा पूजन करना चाहिए।" ५२ इसके बाद बाहर से आये हुए दूसरे आचार्यों को अपने-अपने गणसहित इस नये आचार्य को (मंडलाचार्य या आचार्य चक्रवर्ती को) वन्दना करके स्वदेश को चले जाना चाहिए। ५३ संघ के किसी भी व्यक्ति को इस नवप्रतिष्ठित आचार्य की कभी निन्दा नहीं करनी चाहिए और न उससे नाराज ही होना चाहिए (चाहे वह कैसा ही निन्दनीय और नाराजी का काम क्यों न करे)।" ५४

जैन विद्यापीठ

-
४६. सीहासनं पसत्थं भम्मारसुरूपकट्टपाहणयं। आयरियठवणजोगं विसेसदो भूसियं सुद्धं॥
४७. तस्सतले वरपउमं अट्टदलं सालितंदुलोक्किणं। मज्जे मायापत्ते तलपिंडं चारु सव्वत्थं॥
४८. पच्छा पुज्जिवि जंतं तिय पाहिण देहि सिंहपीठस्स। कुंभिय पायाणो स गणं परिपुच्छिय विउसउतं पीठे॥
४९. तो वंदिरुण संघो विच्छाकिरयाए चारुभावेण। आघोसदि एस गुरू जिणुव्व अम्हाण सामीय॥
- जं कारदि एस गुरू धम्मत्थं तं जो ण मण्णेदि। सो सवणो अज्जा वा सावय वा संघवाहिरओ।
५०. एवं संघोसित्ता मुत्तामालादिदिव्ववत्थेहिं। पोत्थयपूयं किच्चा तदोपरं पायपूया य॥
५१. तत्तो विदिए दिवसे महामहं संतिवायणाजुत्तं। भूयवलिं गहसंति करिज्जए संघसोखत्थं॥
५२. सगसगगणेण जुत्ता आयरिया जह कमेण वंदित्ता। लहुवा जंति सदेसं परिकलिय सूरिसूरेण॥
५३. सो पठदि सव्वसत्थं दिक्खा विज्जाइ धम्म वट्ठत्थं। णहु णिंददि णहु रूसदि संघो सव्वो विसव्वत्थ॥
५४. जिस अध्याय का यह सब कथन है उसके आदि और अंत में दोनों ही जगह भद्रबाहु का नाम भी लगा हुआ है। शुरू के पद्य में यह सूचित किया है कि 'गुप्तिगुप्त' नाम के मुनिराज के प्रश्न पर भद्रबाहु स्वामी जी ने इस अध्याय का प्रणयन किया है। और अन्तिम पद्य में लिखा है कि 'इस प्रकार परमार्थ के प्ररूपण में महा तेजस्वी भद्रबाहु जिनके सहायक होते हैं वे धन्य हैं और पूरे पुण्याधिकारी हैं। यथा-
- "सिरिभद्रबाहुसामिं णमसित्ता गुत्तिगुत्तमुणिणाहिं। परिपुच्छियं पसत्थं अट्ठं पइट्ठावणं जइणो॥३॥"
- "इय भद्रबाहुसूरी परमत्थपरूवणे महातेओ। जेसिं होइ समत्थो ते धण्णा पुण्णपुण्णा य॥१०॥"

पाठक, देखा, कैसा विचित्र विधान है! स्वार्थ साधना का कैसा प्रबल अनुष्ठान है! जैनधर्म की शिक्षा से इसका कहाँ तक सम्बन्ध है! जैन महामुनियों की आरंभ और परिग्रह के त्यागी महाव्रतियों की पैसा तक पास न रखने वाले तपस्वियों की कैसी मिट्टी पलीद की गई है!! क्या जैनियों के आचारांग सूत्रों में निर्ग्रंथ साधुओं के लिए ऐसे कृत्यों की कोई विधि हो सकती है? कभी नहीं। जिन लोगों को जैनधर्म के स्वरूप का कुछ भी परिचय है और जिन्होंने जैनधर्म के मूलाचार आदि यत्याचार विषयक ग्रन्थों का कुछ अध्ययन किया है वे ऊपर के इस विधि-विधान को देखकर एकदम कह उठेंगे कि 'यह कदापि जैनधर्म के निर्ग्रंथ आचार्यों की प्रतिष्ठाविधि नहीं हो सकती' निर्ग्रंथ मुनियों का इस विधान से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। वास्तव में यह सब उन महात्माओं की लीला है, जिन्हें हम आजकल आधुनिक भट्टारक, शिथिलाचारी साधु या श्रमणाभास आदि नामों से पुकारते हैं। ऐसे लोगों ने समाज में अपना सिक्का चलाने के लिए, अपने को तीर्थंकर के तुल्य पूज्य मनाने के लिए और अपनी स्वार्थ-साधना के लिए जैनधर्म की कीर्ति को बहुत कुछ कलंकित और मलिन किया है, उसके वास्तविक स्वरूप को छिपाकर उस पर मनमाने तरह-तरह के रंगों के खोल चढाये हैं, वही सब खोल बाह्य दृष्टि से देखने वाले साधारण जगत् को दिखलाई देते हैं और उन्हीं को साधारण जनता जैनधर्म का वास्तविक रूप समझकर धोखा खा रही है। इसीलिए आज जैन समाज में भी घोर अंधकार फैला हुआ है, जिसके दूर करने के लिए सातिशय प्रयत्न की जरूरत है।

दिगम्बर मुनियों पर कोप

(२०) तीसरे खण्ड के इसी सातवें अध्याय में दो पद्य इस प्रकार से दिये हैं—

“भरहे दूसमसमये संघक्रमं मेल्लिऊण जो मूढो।

परिवट्टइ दिगविरओ सो सवणो संघवाहिरओ॥५॥^{५५}

“पासत्थाणं सेवी पासत्थो पंचचेलपरिहीणो।

विवरीयट्टपवादी अवंदणिज्जो जई होई॥१४॥

पहले पद्य में लिखा है कि 'भरतक्षेत्र का जो कोई मुनि इस दुःषम पंचम काल में संघ के क्रम को मिलाकर दिगम्बर हुआ भ्रमण करता है—अर्थात् यह समझकर कि चतुर्थ काल में पूर्वजों की ऐसी ही दैगम्बरी वृत्ति रही है, तदनुसार इस पंचम काल में प्रवर्तता है—वह मूढ़ है और उसे संघ से बाहर तथा खारिज समझना चाहिए। और दूसरे पद्य में यह बतलाया है कि वह यति भी अवंदनीय है जो पंच प्रकार के वस्त्रों से रहित है। अर्थात् उस दिगम्बर मुनि को भी अपूज्य ठहराया है जो खाल, छाल, रेशम, ऊन और कपास, इन पाँचों प्रकार के वस्त्रों से रहित होता है। इस तरह पर ग्रन्थकर्ता ने दिगम्बर मुनियों पर अपना कोप प्रकट किया है। मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ता को आधुनिक भट्टारकों तथा दूसरे श्रमणाभासों को तीर्थंकर की मूर्ति बनाकर या जिनेन्द्र के तुल्य मनाकर ही संतोष नहीं हुआ, बल्कि

५५. इस पद्य की संस्कृत टीका इस प्रकार दी है: “भरते दुःषमसमये पंचमकाले संघक्रमं मेलयित्वा यो मूढः परिवर्तते परिभ्रमति चतुर्दिक्षु विरतः विरक्तः सन् दिगम्बरः सन् स्वेच्छया भ्रमति स श्रमणः संघबाह्यः।”

उसे दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व भी असह्य तथा कष्टकर मालूम हुआ है और इसलिए उसने दिगम्बर मुनियों को मूढ़, अपूज्य और संघबाह्य करार देकर उनके प्रति अपनी घृणा का प्रकाश किया है। इतने पर भी दिगम्बर जैनियों की अंधश्रद्धा और समझ की बलिहारी है कि वे ऐसे ग्रन्थ का भी प्रचार करने के लिए उद्यत हो गये। सच है, साम्प्रदायिक मोह की भी बड़ी ही विचित्र लीला है।

उपसंहार

ग्रन्थ की ऐसी हालत होते हुए, जिसमें अन्य बातों को छोड़कर दिगम्बर मुनि भी अपूज्य और संघबाह्य ठहराये गये, यह कहने में कोई संकोच नहीं होता कि, यह ग्रन्थ किसी दिगम्बर साधु का कृत्य नहीं है। परन्तु श्वेताम्बर साधुओं का भी यह कृत्य मालूम नहीं होता, क्योंकि इसमें बहुत-सी बातें हिन्दू धर्म की ऐसी पाई जाती हैं जिनका श्वेताम्बर धर्म से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। साथ ही, दूसरे खण्ड के दूसरे अध्याय में 'दिग्वासा श्रमणोत्तमः' इस पद के द्वारा भद्रबाहु श्रुतकेवली को उत्कृष्ट दिगम्बर साधु बतलाया है। इसलिए कहना पड़ता है कि यह ग्रन्थ सिर्फ ऐसे महात्माओं की करतूत है जो दिगम्बर- श्वेताम्बर कुछ भी न होकर स्वार्थ साधना और ठगविद्या को ही अपना प्रधान धर्म समझते थे। ऐसे लोग दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में हुए हैं। श्वेताम्बरों के यहाँ भी इस प्रकार के और बहुत से जाली ग्रन्थ पाये जाते हैं, जिन सबकी जाँच, परीक्षा और समालोचना होने की जरूरत है। श्वेताम्बर विद्वानों को इसके लिए खास परिश्रम करना चाहिए और जैनधर्म पर चढ़े हुए शैवाल (काई) को दूर करके महावीर भगवान् का शुद्ध और वास्तविक शासन जगत् के सामने रखना चाहिए। ऐसा किये जाने पर विचार-स्वातंत्र्य फैलेगा। और उससे न सिर्फ जैनियों की बल्कि दूसरे लोगों की भी साम्प्रदायिक मोह मुग्धता और अंधी श्रद्धा दूर होकर उनमें सदसद्विवेकवती बुद्धि का विकास होगा। ऐसे ही सदुद्देश्यों से प्रेरित होकर यह परीक्षा की गई है। आशा है कि इन परीक्षा-लेखों से जैन-अजैन विद्वान् तथा अन्य साधारण जन सभी लाभ उठावेंगे। अंत में जैन विद्वानों से मेरा निवेदन है कि, यदि सत्य के अनुरोध से इन लेखों में कोई कटुक शब्द लिखा गया हो अथवा अपने पूर्व संस्कारों के कारण उन्हें वह कटुक मालूम होता हो तो वे कृपया उसे 'अप्रिय पथ्य' समझकर या 'सत्यं मनोहारि च दुर्लभं वचः' इस नीति का अनुसरण करके क्षमा करें। इत्यलम्।

